के उद्देश्य

...ाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
...ंथों का विवेचन।
...स्कृति का अनुसंधान।
...न, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

संपादक-मंडल

रामचंद्र शुक्ल   मंगलदेव शास्त्री
केशवप्रसाद मिश्र   वासुदेवशरण अग्रवाल
कृष्णानंद

सूचना

"सब श्रेणी के सभासदों को, उनके सभासद होने के वर्षारंभ से, सभा की मुख-पत्रिका बिना मूल्य दी जायगी। ये सभासद अपने सभासद होने के वर्षारंभ के अनंतर सभा द्वारा प्रकाशित अन्य सामयिक पत्रिका तथा पुस्तकों की एक एक प्रति ¾ मूल्य पर ले सकते हैं और जितने दिन पुराने ये सभासद होंगे, सभासद होने के उतने दिन पहले तक की प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक या सामयिक पत्रिका की एक एक प्रति इसी मूल्य पर ले सकते हैं। परंतु प्रबंधसमिति को अधिकार होगा कि साधारण सभा की अनुमति से किसी विशेष पुस्तक को इस नियम से बाहर रक्खे।"

(सभा का नियम, सं० २१)

आभास

मध्य प्रदेश के इतिहास की, स्वयं डाक्टर हीरालाल के हाथ की लिखी, प्रति स्वर्गवासी डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल को डाक्टर हीरालाल के भतीजे से प्राप्त हुई। उसे स्व० जायसवालजी ने काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पास भेज दिया कि वह इसका उचित उपयोग करे। यह हस्तलिखित प्रति बहुत दिनों तक पड़ी रही। अंत में यह निश्चय हुआ कि यह इतिहास प्रकाशित कर दिया जाय। उसी निश्चय के अनुसार यह प्रकाशित किया जाता है।

श्री राहुल सांकृत्यायनजी ने लिखा है—"अन्य विषयों के विद्वान् तो हीरालालजी थे ही, किंतु वे कलचुरि-इतिहास का ऐसा ज्ञान रखते थे जैसा इस समय तक भारत में किसी को नहीं है। आगे भी उस तरह का ज्ञाता कब कोई हो सकेगा, नहीं कहा जा सकता। उनकी आयु और स्वास्थ्य को देखकर हम लोगों को बहुत डर लग रहा था कि कहीं हमारे देश को इस ज्ञानराशि से वंचित न हो जाना पड़े। हमने बहुत तरह से कहा था—'आप कलचुरि-काल के इतिहास को शीघ्र लिखवा दीजिए।' वे भी इसके महत्त्व को समझते थे और तय हुआ था कि साथ में एक लेखक रखकर वे इतिहास लिखवा देंगे। पिछली गर्मियों में ल्हासा में रहते समय मेरी यह धारणा थी कि कलचुरि इतिहास तैयार हो रहा होगा। × × × जब जब ख्याल आता है कि कलचुरि-इतिहास का लेखक चला गया और अब हमको उस योग्यता का कलचुरि-इतिहास लिखनेवाला नहीं मिलेगा तब बहुत खेद होता है। × × × इतिहास एक ऐसा विषय है जो मननशील और अध्ययनशील व्यक्ति की आयु-वृद्धि के साथ अधिक परिपक्व होता जाता है। × × × स्व० राय बहादुर का इतिहास-अनुशीलन प्रेम और भक्ति से संबंध रखता था।"

श्री जयचंद्र विद्यालंकारजी इस संबंध में लिखते हैं—"चेदि की भूमि, जातियों, बोलियों और इतिहास का जैसा ज्ञान राय बहादुर हीरालाल को था, हमारे जमाने में वैसा और किसी को नहीं है। उन्होंने अपनी उम्र उसी के अध्ययन में लगा दी थी। इसी लिये उनसे मैंने प्रार्थना की कि वे अपने ज्ञान को अपने पीछे आने वालों के लिये भी छोड़ जायँ। मेरी प्रार्थना पर पहले तो उन्होंने कहा कि वे सब प्रकार के मेहनत के काम से निवृत्त हो चुके हैं, पर सन् १९३३ में उन्होंने आखिर वह प्रार्थना मान ली। उस संबंध में उन्होंने एक पिछली घटना भी बताई।

"भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने चेदि-अभिलेखों के संपादन का काम राय बहादुर हीरालाल को सौंपा था। तब उन्होंने चेदि-इतिहास लिखने की पूरी तैयारी कर ली थी। उस ग्रंथ के लिये उन्हें १०) प्रति पृष्ठ के हिसाब से पारिश्रमिक देने को कहा गया। उन्हीं दिनों डाक्टर स्टाइन कोनौ को खरोष्ठी-अभिलेखों के संपादन का काम सौंपा गया और उन्हें एक गिनी प्रति पृष्ठ पारिश्रमिक देना तय हुआ। हीरालालजी ने कहा कि वे या तो एक गिनी प्रति पृष्ठ ही लेंगे, और नहीं तो उस ग्रंथ को मुफ्त में प्रस्तुत कर देंगे। दूसरी दशा में केवल उनके एक सहकारी का खर्चा सरकार को देना होगा। सरकार इस काम के लिये ५०००) खर्च करने को तैयार थी; डायरेक्टर-जनरल आव आर्क्योलाजी को डर लगा कि कहीं हीरालालजी के सहकारी का खर्च ५ हजार से अधिक न बढ़ जाय। इसलिये यह प्रस्ताव पड़ा ही रह गया। सन् १९३३ में डा० हीरालाल ने उस टले हुए कार्य को कर डालने का इरादा किया। एक एम० ए० पास सज्जन को अपना सहकारी नियत कर वे ग्रंथ की सामग्री जुटाने लगे। × × ×"

ऊपर दिए गए अवतरणों से स्पष्ट है कि चेदि के इतिहास के संबंध में चेदि-कीर्ति-चंद्र डाक्टर हीरालाल का सिक्का जमा हुआ था। उस इतिहास के कुछ अंशों को वे अँगरेजी में और हिंदी में भी प्रकाशित कर चुके थे। जबलपुर की अस्तंगत मासिक पत्रिका 'श्रीशारदा'

के संवत् १९७९ के मार्गशीर्ष—फाल्गुन, और संवत् १९८० के चैत्र—श्रावण तक तथा आश्विन के अंकों में उक्त इतिहास का कुछ अंश निकला था। उनके अन्यान्य ग्रंथ—सागर-सरोज, दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति आदि—उसी विषय पर हैं। 'श्रीशारदा' में प्रकाशित लेख-माला को शुद्ध करके वे एकत्र रखते गए और उसके आगे का अंश भी लिखकर उन्होंने उसमें सन्निविष्ट कर दिया। प्राय: प्रत्येक अध्याय को देखकर उन्होंने अंत में हस्ताक्षर करके तारीख डाल दी थी।

कापियाँ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका विचार सूक्ष्म दृष्टि से इसके संपादन करने का था। किंतु एक तो वृद्धावस्था, दूसरे अस्वस्थता और सबसे अधिक अनुत्साह तथा अनवकाश ने वह समय ही न आने दिया। संग्रह पड़ा रह गया और एक आध प्रसंग की कापियों पर तो झींगुरों ने कृपा कर दी थी।

हर्षवर्धन का जो अंश पृष्ठ २६ पर मुद्रित है उसके आगे कई पृष्ठ खाली पड़े हुए थे जिनसे ज्ञात होता है कि लेखक का विचार इस विषय पर पृथक् अध्याय लिखने का था; किंतु उसमें एक शब्द भी वे आगे न लिख पाए। मैंने हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, से प्रकाशित 'हर्षवर्धन' में इसके अनुकूल विषय ढूँढ़ा और काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के इतिहासाचार्य डा० त्रिपाठी से भी विचार-विनिमय किया किंतु कुछ लिखने योग्य सामग्री उपलब्ध न हो सकी। पता नहीं, डाक्टर साहब इस अध्याय में क्या क्या लिखना चाहते थे। इसी प्रकार वे परिव्राजकों की राजधानी का स्थल-निर्देश और ठीक ठीक मिति भी देना चाहते थे। इसके लिये भी कापी में स्थान खाली पड़ा था। पता नहीं, वे इस तथ्य का संकलन कहाँ से करते और उसके प्रमाण में किन युक्तियों से काम लेते। जो हो, चेदि के इतिहास के संबंध में उनकी लिखी जो सामग्री प्राप्त थी वह एकत्र सन्निविष्ट करके इस आशा से प्रकाशित की जा रही है कि संभव है, डाक्टर साहब का कोई समान-धर्मा आगे चलकर इसे सर्वांगपूर्ण कर सके।

—ल० पांडेय

सूचना

१—पत्रिका के इस अंक का प्राय: सभी स्थान 'मध्य प्रदेश का इतिहास' ने ले लिया है। इस कारण इसमें अन्य विषयों का समावेश नहीं हो सका। अगले अंक से विषयों का समावेश यथापूर्व रहेगा।

२—सभा की वार्षिक रिपोर्ट में 'सभा की प्रगति' आ ही चुकी है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रथम अध्याय	१—४
मध्य प्रदेश - नवीन प्रदेश—अंतर्विभाग—वर्तमान और प्राचीन अंग।	
द्वितीय अध्याय	४—८
प्रागैतिहासिक काल—दंडकारण्य—राम—कार्त्तवीर्य—श्रीकृष्ण—महाभारत।	
तृतीय अध्याय	८—१४
मौर्य काल—शिशुनाग व नंदवंशी—मौर्यवंश—अर्थशास्त्र।	
चतुर्थ अध्याय	१४—१७
विद्रोह-काल—शुंग—खारवेल—आंध्रभृत्य।	
पंचम अध्याय	१८—२५
गुप्त वंश—विक्रमादित्य—हूण-आक्रमण—यशोधर्मन्—राजर्षितुल्यकुल—सोमवंशी पांडव—त्रिकलिंगाधिपति।	
षष्ठ अध्याय	२५—३०
विदर्भ—वाकाटक—शैलवंशी—राष्ट्रकूट—हर्षवर्द्धन।	
सप्तम अध्याय	३०—४७
कलचुरि—प्राचीन राजधानी—त्रिपुरी—आदिराजा—गोलकी मठ—चढ़ाव उतार—गांगेयदेव—कर्णदेव—यशःकर्णदेव—त्रिपुरी के अंतिम राजा—कलचुरिशासन-पद्धति—कलचुरि-धर्म—शिल्प और साहित्य।	
अष्टम अध्याय	४७—५६
रत्नपुर के हैहय—तुम्माण—रत्नपुर के राजा—रायपुरी शाखा—रत्नपुरी राजाओं की शासन-पद्धति।	
नवम अध्याय	५६—६७
महाकोशल के छोटे-मोटे राजा—कवर्धा के नागवंशी—काँकेर के सोमवंशी।	

विषय | पृष्ठ

दशम अध्याय ६८–७१
नागवंशी—बस्तर के नागवंशी।

एकादश अध्याय ७१–७५
विविध राजवंश—परमार—मुसलमानी आक्रमण—पड़िहार—चंदेल।

द्वादश अध्याय ७५–७८
मुसलमानों का प्रवेश—तुगलक—खिलजी।

त्रयोदश अध्याय ७८–८५
मुसलमानी जमाना–फारुकी, इमादशाही, बम्हनी—फारुकी—मीरन आदिलखाँ और उसकी सतान—आदिलशाह आजिमे-हुमायूँ और उसकी शाखा—अकबर और असीरगढ़—मुगल-शासन।

चतुर्दश अध्याय ८५–९९
गोंड़—गोंड़-वंशोत्पत्ति—यथार्थ मूल—सग्रामशाह–दुर्गावती—हिरदयशाह—गोंढ़—गोंड़-धर्म—गोंड़-शासन-पद्धति।

पंचदश अध्याय ९९–१०१
बुंदेले—हिरदयशाह बुंदेला।

षोडश अध्याय १०२–१०५
मराठे—नागपुर के भोसले—ब्रिटिश-राज्य—

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४४-संवत् १९९६ [नवीन संस्करण] भाग २०-अंक १

(१) मध्य प्रदेश का इतिहास

[लेखक—स्वर्गवासी राय बहादुर डाक्टर हीरालाल बी० ए०, एम० आर० ए० एस०]

प्रथम अध्याय

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश भारतवर्ष के बीचोंबीच का वह विभाग है जिसको अँगरेजों ने सन् १८६१ ईसवी मे एक पृथक् प्रदेश बना दिया। उसके पूर्व इसका उत्तरीय भाग प्राचीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रदेश) में सम्मिलित था और दक्षिण अर्थात् नागपुर की ओर का भाग देशी रजवाड़ा था। अकस्मात् सन् १८५७ ईसवी में सिपाही-विद्रोह की आग भड़की। उसके शांत होने पर भारतवर्ष के विभागों का राजनीतिक दृष्टि से पुनः शोध किया गया तब यह स्थिर किया गया कि देश के सुप्रबंध और शांति के लिये मध्य भारत में एक प्रदेश बनाना चाहिए। इधर नागपुर का राज्य सन् १८५३ ई० ही में अँगरेजों की देखरेख में आ चुका था और जो अधिकार भोंसला घराने को प्राप्त थे वे सन् १८५७ में, आपा साहब भोंसले के बिगड़ उठने पर, छीन लिए गए जिससे अँगरेजों को उस राज के शासन

नवीन प्रदेश

का प्रबंध भी अनिवार्य्य हो गया। नागपुर का राज इतना विस्तीर्ण और अँगरेजी प्रांतों से इतनी दूर था कि वह किसी प्रदेश में जोड़ा नहीं जा सकता था। इसलिये भी एक अलग प्रदेश रचने की आवश्यकता हुई।

उत्तरीय भाग मध्य प्रदेश की रचना के पूर्व 'सागर व नरबदा प्रांत' कहलाता था। वह ९ जिलों में विभक्त था अर्थात् सागर, दमोह, जबलपुर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, बैतूल, छिंदवाड़ा, सिवनी और मंडला। दक्षिणी भाग के भी उतने ही जिले बनाए गए अर्थात् नागपुर, वर्धा, चाँदा, भंडारा, बालाघाट, रायपुर, बिलासपुर, संबलपुर और अपर गोदावरी। इस प्रकार १८ जिलों के समूह का एक नवीन प्रांत स्थापित किया गया। पीछे से कुछ अदल-बदल की गई जिसके कारण उत्तरीय देशी रजवाड़ों से जो भूमि प्राप्त हुई उससे एक और जिला निमाड़ जुड़ गया और अपर गोदावरी का जिला तोड़ दिया गया। उसका कुछ भाग रायपुर जिले में और कुछ चाँदा जिले मे मिला दिया गया। सन् १९०६ ई० में संबलपुर का जिला उड़ीसा मे मिला दिया गया और दीर्घकाय रायपुर और बिलासपुर जिलों का पुनः बटवारा करके तीन विभाग किए गए जिससे दुर्ग जिले की नवीन स्थापना हुई। सन् १९०३ ई० में बरार प्रांत के चार जिले अमरावती, अकोला, यवतमाल और बुलढाना मध्य प्रदेश मे सम्मिलित किए गए जिसके कारण अब इस प्रदेश में २२ जिले हो गए हैं। इनके सिवा छोटे-बड़े १५ रजवाड़े हैं जो इसी प्रदेश के अंतर्गत रखे गए हैं। पहले वे पृथक् पृथक् जिलों मे विभक्त थे; यथा बस्तर अपर गोदावरी जिले का भाग समझा जाता था। उस जिले के टूटने पर वह रायपुर जिले में जोड़ दिया गया था। रायपुर में बस्तर के सिवा काँकेर, नाँदगाँव, खैरागढ़ और छुइखदान के रजवाड़े शामिल थे। कवर्धा, सकती, रायगढ़ और सारंगढ़ बिलासपुर से संबंध रखते थे। मकड़ाई होशंगाबाद जिले के अंतर्गत था। शेष कालाहाँडी, पटना, सोनपुर, रेढ़ाखोल और बामड़ा संबलपुर जिले

अंतर्विभाग

में सम्मिलित थे। ये, संबलपुर जिला समेत, उड़िया होने के कारण उड़ीसा में लगा दिए गए हैं। इन पाँच रजवाड़ों के बदले छुटिया नागपुर के ५ हिंदी रजवाड़े अर्थात् सिरगुजा, उदयपुर, जशपुर, कोरिया और चाँग भरवार इस प्रदेश में जोड़ दिए गए हैं। इन १५ रजवाड़ों की देख-रेख के लिये एक पोलिटिकल एजेंट नियुक्त कर दिया गया है।

वर्तमान और प्राचीन अंग

मध्य प्रदेश का कुल क्षेत्रफल १,३१,०५२ वर्गमील है। वह पाँच कमिश्नरियों में विभक्त है अर्थात् (१) नागपुर कमिश्नरी जिसमें नागपुर, वर्धा, चाँदा, भंडारा और बालाघाट के जिले हैं। (२) छत्तीसगढ़ कमिश्नरी जिसमें रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग के जिले तथा मकड़ाई को छोड़कर सब रजवाड़े सम्मिलित हैं। (३) जबलपुर कमिश्नरी जिसमें जबलपुर, सागर, दमोह, सिवनी और मंडला के जिले शामिल हैं। (४) नरबदा[१] कमिश्नरी जिसमें होशंगाबाद, नरसिंहपुर, निमाड़, छिंदवाड़ा और बैतूल के जिले शामिल हैं और (५) बरार कमिश्नरी जिसमें अमरावती, अकोला, यवतमाल और बुलढाना के जिले लगते हैं। प्राचीन काल में ये विभाग पृथक् पृथक् देशों के अंग थे। इसमें संदेह नहीं कि किसी समय मध्यदेश नामक एक प्रांत था परंतु वह वर्त्तमान मध्य प्रदेश की सीमा से मिलान नहीं खाता। वह यमुना और नर्मदा के बीचोंबीच था।

प्रागैतिहासिक काल में मध्य प्रदेश का बहुत सा भाग दंडकारण्य कहलाता था। इस जंगल का पूर्वी भाग महाकोशल या दक्षिण कोशल कहलाता था। इसमें प्रायः समस्त छत्तीसगढ़ कमिश्नरी और नागपुर कमिश्नरी का कुछ भाग आ जाता है। हैहयों का अधिकार फैलने पर महाकोशल का बहुत सा भाग चेदि देश के अंतर्गत हो गया।

१—अब नरबदा कमिश्नरी तोड़ दी गई है। दमोह जिला टूट कर सागर की तहसील कर दिया गया है और नरसिंहपुर तोड़कर होशंगाबाद की तहसील। नरबदा कमिश्नरी के बैतूल और छिंदवाड़ा जिले तो नागपुर कमिश्नरी में और निमाड़ तथा होशंगाबाद जबलपुर कमिश्नरी में मिला दिए गए हैं।—स०

हैहयों का मूल स्थान महिषमंडल और डाहल में था। महिषमंडल की राजधानी माहिष्मती निमाड़ जिले के वर्तमान मांधाता में थी और डाहल की जबलपुर जिले के अंतर्गत त्रिपुरी (वर्त्तमान तेवर) में। महिषमंडल में वर्तमान औरंगाबाद जिला व दक्षिण मालवा सम्मिलित थे। डाहल का विस्तार उत्तर-दक्षिण यमुना और नर्मदा के बीचोंबीच था। बरार प्राचीन विदर्भ है जिसके अंतर्गत भोजकट का प्रांत था। बस्तर का राज्य चक्रकूट या भ्रमरकूट कहलाता था। इनारा किनारों पर अनूप, अवंति, दशार्ण, गौड़, ओड्र, कलिंग आदि लगे हुए थे जिनके कुछ टुकड़े वर्त्तमान मध्य प्रदेश में सम्मिलित हो गए हैं। कालांतर में इन नामों का परिवर्तन हो गया जिसके कारण विदर्भ बरार कहलाने लगा, अनूप और अवंतिका का नाम मालवा पड़ गया, महाकोशल को छत्तीसगढ़ की उपाधि मिली, चेदि के एक भाग का नाम कुछ काल तक जेजाकभुक्ति या जझौती रहा फिर वह बुंदेलखंड कहलाने लगा। चेदि का दूसरा भाग भट्टविल या भट्टदेश और पश्चात् बघेलखंड के नाम से प्रख्यात हो गया। ओड्र उत्कल या उड़ीसा कहलाने लगा, गौड़ के पूर्वीय भाग का नाम बंगाल चल निकला और पश्चिमी भाग के अनेक विभागों के भिन्न भिन्न नाम रख लिए गए। इन विविध देशों के पृथक् पृथक् शासनकर्त्ता थे, इसी कारण इस मध्य प्रदेश में, एक ही काल में, अनेक राजाओं का राज रहा जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

प्रागैतिहासिक काल

भूमि की बहुत प्राचीन दशा का पता भूगर्भ-विद्या से लगता है। पत्थर और चट्टान ही उसके मुख्य चारण हैं जो उसकी महिमा और आयु का उच्चारण करते हैं। इनकी गवाही से जान पड़ता है कि कई हजार वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश के बहुत से भाग में समुद्र लहराता था।

उसके पश्चात् उसने कड़ी भूमि का वेष धारण किया और वनस्पतियों के उगने का अवसर दिया, पश्चात् प्राणियों का आविर्भाव हुआ। इन सब में मानुषी उपज सबसे पीछे की समझी जाती है। सब से प्राचीन मानवी सृष्टि का क्या नाम था, यह तो अब विदित नहीं है परंतु जो अब जंगली जातियाँ कही जाती हैं वे सबसे प्राचीन लोगों की संतति हैं। मध्य प्रदेश में कोई ४५ प्रकार की जंगली जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें से कई एक निस्संदेह आर्यों के आने के पूर्व यहाँ पर विद्यमान थीं। इन सब जातियों में गोंड़ों की संख्या सब से अधिक है। गोंड़ जाति की जनसंख्या कोई २२ लाख है। ऐसा कोई जिला या रजवाड़ा नहीं जहाँ पर ये न पाए जाते हों। किसी किसी जगह तो इनकी संख्या सैकड़ा पीछे साठ से भी अधिक पड़ती है, जैसे उत्तर में मंडला जिले में और दक्षिण में बस्तर रियासत मे। कहीं कहीं पर पचास वर्ष पूर्व ये लोग बिलकुल नग्न अवस्था में विचरते थे। ये अपनी भाषा में अपनी जाति को कोयतूर कहते हैं जिसका अर्थ होता है मनुष्य। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये लोग अपने को अन्य जानवरों से बिलगानेवाले शब्द का उपयोग करते थे। पशुओं और इनकी स्थिति में बड़ा भारी अंतर नहीं था। जान पड़ता है, इसी कारण जब आर्यों से संपर्क हुआ तब उस सभ्य जाति ने इन असभ्यों को पशु समान समझकर घृणासूचक गोंड की उपाधि लगा दी जिसका यथार्थ अर्थ ढोर (पशु) होता है। किसी किसी ने इन लोगों या इनके अन्य भाइयों को बंदर भालू राक्षस इत्यादि की उपमा दे डाली, जिनका समावेश रामायण समान बड़े महत्व के ग्रंथो में भी हो गया।

इस प्रदेश के मूल निवासियों का जो थोड़ा-बहुत वर्णन मिलता है वह रामायण ही में पाया जाता है। उस समय इस प्रदेश को

दंडकारण्य

दंडकारण्य कहते थे। विन्ध्य पर्वत के उत्तर की ओर आर्यों की बस्तियाँ तो अवश्य थीं, परंतु उसके दक्षिण में जंगली लोग ही रहा करते थे। आर्यों ने आधिपत्य

प्राप्त करने के पूर्व ही इस भूमि को इक्ष्वाकुवंशियों की मान लिया और वे उसमें घुसने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने मूल निवासियों को सताना आरंभ किया। वे उनके यज्ञों में बाधा डालने लगे और कई एकों को मार मारकर संसार के उस पार कर दिया।

जब कोशल के राम दंडकारण्य में आए तब उन्हें कई स्थलों पर ऋषि-मुनियों की हड्डियों के ढेर दिखलाए गए। उन्होंने दंडकारण्य को अपने राज्य के अंतर्गत समझकर उपद्रवियों को मारना आरंभ किया। बालिवध का निश्चय करते समय उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था "यह वन-कानन-शालिनी सशैल भूमि इक्ष्वाकुवंशवालों के अधिकार में है। भरत उस वंश के राजा हैं और हम उनके आज्ञानुसार पापियों को दंड देने के लिये नियुक्त हैं। जिन्हें दंड देना है उनके संग क्षत्रियों के समान सम्मुख होकर युद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है"।[१] जब उनके राजा रावण ने सुना तो उसने भी राम के साथ उपद्रव किया और वह उनकी स्त्री सीता को हर ले गया। यद्यपि सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने के कारण बहुतेरे गोंड यह नहीं जानते कि रावण कौन था परंतु वे अभी तक अपने को रावणवंशी बतलाते ही चले जाते हैं। कोई चार सौ वर्ष पूर्व जब इस प्रदेश में गोंड़ों का आधिपत्य हो गया और ब्राह्मणो ने समय देख गोंड़ राजाओं को प्रसन्न करने के हेतु राजघरानों की अलग पंक्ति बनाकर उन्हें जनेऊ पहनाकर क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था कर दी तब भी उन्होंने अपने वंश को नहीं मेटा और अपने सिक्कों पर वे अपने नाम के आगे पौलस्त्यवंश अंकित करते ही रहे। कई विद्वानों का मत है कि लंका नर्मदा के उद्गम-स्थान अमरकंटक मे थी जो पहले मध्य प्रदेश के भीतर था परंतु पीछे से रीवाँ के महाराजा को दे दिया गया। यदि पूर्ण शोध होने पर यह सत्य निकले तो उसके आसपास के निवासी गोंड़ों का अपने को रावणवंशी कहना सार्थक और अत्यंत उपयुक्त ठहरेगा।

राम

१—रामायणी कथा पृ० ७२।

लंका चाहे जहाँ रही हो, रामायण से यह तो प्रत्यक्ष है कि राम ने अपने वनवास का अधिक समय दंडकारण्य अर्थात् इस प्रदेश में बिताया और नर्मदा के दक्षिण के अनेक स्थलों में भ्रमण किया। उसी काल में नर्मदा के उत्तरीय अंचल में सहस्रार्जुन कार्त्तवीर्य महिषमंडल का राज्य करता था जिसकी राजधानी माहिष्मती थी। माहिष्मती नर्मदा के किनारे पर थी इसलिये कुछ लोग उसे मंडला और कुछ महेश्वर समझते रहे परंतु अब निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया गया है कि वह निमाड़ जिले के मांधाता के सिवा अन्य नहीं है। कार्त्तवीर्य रावण का समकालीन था। इन दोनों में मुठभेड़ भी हो जाया करती थी। एक बार कार्त्तवीर्य ने रावण को पकड़कर अपने महल के खूँट में बंद कर रखा था। वह चंद्रवंशी राजा था, उसी से हैहयों की उत्पत्ति हुई जिनकी एक शाखा त्रिपुरी में जा बसी। उस वंश के नृपतियों ने अपना आधिपत्य इतना बढ़ाया कि वे भारतवर्ष के सम्राट् हो गए। यह ऐतिहासिक काल की वार्त्ता है जिसका ब्यौरेवार वर्णन यथास्थान किया जायगा।

कार्त्तवीर्य

यह प्रदेश राम, कार्त्तवीर्य और रावण ही की लीलाभूमि नहीं रहा वरन् अगले युग में श्रीकृष्ण से भी इसका घनिष्ठ संबंध हो गया। वर्त्तमान बरार प्राचीन काल मे विदर्भ कहलाता था, जिसका राजा भीष्मक था। इसी की कन्या रुक्मिणी थी जिसका विवाह श्रीकृष्ण से हुआ। भीष्मक की राजधानी कौंडिन्यपुर थी। वह अमरावती जिले में इसी नाम से अभी तक विद्यमान है। उस समय चेदि देश का राजा शिशुपाल बड़ा शक्तिशाली था और रुक्मिणी का विवाह उसी से होनेवाला था परंतु श्रीकृष्ण ने विघ्न डाल दिया। इसी के कारण दोनों में विरोध हुआ और अंत में शिशुपाल को प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

श्रीकृष्ण

इस देश में जो सबसे बड़ा भारी युद्ध हुआ वह कौरवों और पांडवों के बीच का है जिसका वर्णन महाभारत में किया गया है। इस युद्ध में भारतवर्ष के सभी राजा सम्मिलित हुए थे। जान पड़ता है

कि मध्य प्रदेश की भूमि के तत्कालीन अधिकारी राजा कौरवों की ओर से और कुछ पांडवों की ओर से लड़े थे। श्रीकृष्ण ने अपनी सेना

महाभारत

कौरवों को दे दी थी और आप पांडवों की ओर से खड़े हुए थे। शोध लगाने से जान पड़ता है कि यह घटना कोई पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई। ~~एक जैन मंदिर~~ में, जो शक संवत् ५५६ में बना था, लिखा हुआ पाया जाता है कि उस समय भारत युद्ध को हुए ३७३५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। शक संवत् ईसवी सन् के ७८ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुआ था इसलिये सन् १६२७ में गणना करने से महाभारत की तिथि ५०२८ साल बैठती है। पंचांगों में कलियुग की जो संख्या दी जाती है वह इससे मेल खाती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कलियुग संवत् का आरंभ तभी से हुआ। इतने प्राचीन काल के चिह्न इस देश में नहीं मिलते। परंतु पंजाब के हड़प्पा और सिंध के मोहनजोदरो में खोदने से ऐसी कुछ वस्तुएँ मिली हैं जो इतनी ही पुरानी जान पड़ती हैं। विशेष जाँच होने पर कदाचित् ये उस जमाने की सभ्यता के प्रत्यक्ष प्रमाण समझे जायँ और ऐतिहासिक काल का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण हो जाय।

तृतीय अध्याय

मौर्य काल

भारतवर्ष का ऐतिहासिक काल कोई ढाई हजार वर्षों से आरंभ होता है। उस समय मगध देश के राजा विशेष प्रतापशाली थे। ये

शिशुनाग व नंदवंशी

शिशुनाग-वंशी कहलाते थे क्योंकि इस वंश के प्रथम राजा का नाम शिशुनाग था। इस वंश के दस राजाओं ने कोई ढाई सौ वर्ष तक राज्य किया। दसवें राजा महानंद के एक शूद्रा स्त्री से नंद नाम का लड़का पैदा हुआ जिसने असल शैशवनागों को निकाल कर अपना अधिकार जमा लिया। नंद

के वंश में सौ वर्ष तक राज्य स्थिर रहा। यह वंश भी बड़ा समृद्धिशाली था। नंद का पुत्र महापद्म एकराट् एकच्छत्र कहलाता था परंतु अभी तक कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो कि शिशुनाग या नंदवंशियों का अधिकार मध्य प्रदेश के किसी भाग में था या यहाँ के स्थानीय राजा उनका आधिपत्य मानते थे।

जब नंदवंश का पतन प्रसिद्ध चाणक्य ब्राह्मण की नीति द्वारा हुआ तब मौर्यवंशी चंद्रगुप्त राजा सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार चंद्रगुप्त शाक्यवंशी गौतम बुद्ध का वंशज था। उसका पिता हिमालय पर्वत के ऊपर एक छोटे से राज्य का अधिकारी था। उसके

मौर्यवंश

राज्य में मोर बहुत थे इसलिये उसके वंश का नाम मौर्य कहलाया। कोई कोई कहते हैं कि उस राजा की राजधानी मोरिय नगर में थी इसलिये वंश का नाम मौर्य चल निकला। अन्य कहते हैं कि चंद्रगुप्त नंदवंशी अंतिम राजा महानंद की मुरा नामक नाइन दासी के पेट का लड़का था इसलिये मौर्य कहलाया परंतु स्पष्टत: यह युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि इतना बड़ा प्रतापी राजा अपने वंश का नाम हीनतासूचक क्यों चलने देता। यह केवल ईर्ष्या का फल है, क्योंकि इस वंश ने बौद्ध धर्म का विशेष समर्थन किया। पहाड़ी राजयुवक चंद्रगुप्त को सिकंदर की भारत पर चढ़ाई और अपने देश को लौटते समय उसकी मृत्यु ने ऐसा प्रसंग उपस्थित किया जिसके कारण वह भारतवर्ष का एक महाप्रतापी राजा हो गया। सिकंदर ने जिन राजाओं को हरा दिया था उनको संतोष कैसे हो सकता था? वे और उनकी प्रजा सभी विदेशी शासन से मुक्त होना चाहते थे। अवसर मिलने पर बलवा हो गया। चंद्रगुप्त बलवाइयों का मुखिया बन बैठा। पंजाब की सीमा पर रहनेवाली लड़ाकू जातियों से मेल कर उसने एक बड़ी भारी सेना प्रस्तुत की और यूनानी दल से लड़ाई लेकर और उसे हराकर पंजाब पर अपना स्वत्व जमा लिया। उस समय मगध देश बड़ा समृद्धिशाली था। चंद्रगुप्त ने अपनी दृष्टि उस ओर फेरी और चाणक्य की सहायता से षड्यंत्र रचकर महानंद

को मरवा डाला और आप गद्दी पर बैठ गया। अब उसकी सेना और भी बढ़ गई। उसके पास छः लाख पैदल, तीस सहस्र सवार, नौ सहस्र हाथी और बहुत से रथ थे। इस चतुरंगिणी सेना का सामना कौन कर सकता था? उसने शीघ्र ही उत्तरीय रजवाड़ों को सर कर डाला और करनाटक तक नहीं तो नर्मदा के तीर तक का प्रांत अपने अधीन अवश्य कर लिया। भारत में चंद्रगुप्त ही पहला ऐतिहासिक चक्रवर्ती राजा है जिसने बंगाल की खाड़ी और अरब समुद्र के मध्यस्थ संपूर्ण देश का अकंटक राज्य किया। उसी प्रांत के अंतर्गत इस प्रदेश के सागर, दमोह आदि जिले भी थे। जिस समय चंद्रगुप्त ने यूनानियों को हराया उस समय वह केवल पचीस वर्ष का था। उसने १८ वर्ष के भीतर पूर्ण रूप से अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और बड़ी योग्यता के साथ शासन किया, जिसकी प्रशंसा आज तक होती है। उसने विष्णुगुप्त चाणक्य को अपना मंत्री बनाया था। उसकी सहायता से ही चंद्रगुप्त को मगध का सिंहासन प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त वह राजनीति में अत्यंत निपुण था।

अर्थशास्त्र

चाणक्य ने अपना जो अर्थशास्त्र लिखा है, उसमें तत्कालीन राज्य-शासन-विधि का ब्यौरेवार वर्णन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इससे ज्ञात होता है कि सन् ईसवी से तीन चार सौ वर्ष पूर्व की सभ्यता उच्च श्रेणी की थी। अर्थशास्त्र में राजा-प्रजा सब के कर्तव्य का वर्णन है। राजा १२ या १६ सभासदों की सम्मति से राज्य-कार्य चलाता था। राज्य-शासन के १८ विभाग रहते थे। उनके प्रबंध के लिये अलग अलग अधिकारी नियुक्त रहते थे। कई विभाग प्रजा के विशेष हितार्थ खोले गए थे, जैसे खेती की सिंचाई के लिये जलाशय-निर्माण, व्यापार के लिये जल व थल मार्ग, बाजार व गोदामें, औद्योगिक-कार्यालय, सड़क, घाट, पुल, पीड़ितों के लिये भैषज्यगृह, ओषधि और वनस्पति-उद्यान, अनाथ अशक्तों के लिये दीनालय, पशुओं के लिये जंतु-गृह इत्यादि।

यूनान देश की ओर से चंद्रगुप्त के दरबार में मेगेस्थनीज नामक दूत रहता था। यह विदेशी जो लेख छोड़ गया है उससे ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त के राज्य में कृषि-भूमि के अधिकांश भाग को पानी दिया जाता था, और इस काम को यथोचित रीति से चलाने के लिये कई अध्यक्ष नियुक्त थे। कोई नदियों की देख-रेख करता था, कोई भूमि की माप और कोई नहरों की चौकसी रखता था। अर्थ-शास्त्र के आविर्भाव से ये सब बातें अब पुष्ट हो गई हैं। इतना ही नहीं, उनके काम करने की रीति ब्योरेवार प्रकट हो गई है; जैसे कृषि-सिंचन के विषय में लिखा है कि पानी चार प्रकार से दिया जाता था,—हस्तप्रावर्तिम अर्थात् हाथ के द्वारा, स्कंधप्रावर्त्तिम अर्थात् कंधे पर ढोकर, स्रोतयंत्र-प्रावर्तिम अर्थात् कल के द्वारा और नदी-सर-तटाक-कूपोद्घाट-द्वारा। कृत्रिम नहरें भी बनी हुई थीं जिनको कुल्या कहते थे। जल-वर्षा जानने के लिये वर्षमान कुंड बने थे, जो इस समय 'रेनगेज' कहलाते हैं। धातुओं के निकालने के लिये खानि-विभाग अलग था। जल और थल दोनों से बहुमूल्य धातु या पत्थर, हीरे इत्यादि निकालने का प्रबंध राजा की ओर से होता था। कच्ची धातुएँ सिझाकर जब पक्की कर ली जाती थीं, तब वे विशेष अध्यक्षों के अधीन कर दी जाती थीं; जैसे सोने का कारबार सौवर्णाध्यक्ष के अधीन कर दिया जाता था, लोहे और इतर धातुओं का कार्य लोहाध्यक्ष के अधीन रहता था। इन धातुओं से अस्त्र-शस्त्र बनवाने के लिये अलग अधिकारी नियुक्त था, जिसे आयुधाध्यक्ष कहते थे। सारांश यह है कि प्रत्येक कार्य के लिये ब्योरेवार काम का बँटवारा इस प्रकार कर दिया गया था जिससे प्रत्येक विभाग की यथोचित वृद्धि होती जाती थी। यद्यपि चाणक्य-प्रणाली के चिह्न अब अवगत नहीं हैं तथापि जान पड़ता है कि उसका प्रचार अवश्य रहा होगा। इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि मौर्यों के पीछे जो राजा हुए, उनके दरबार में भी कई वैसे ही पदाधिकारी थे, जिनका वर्णन अर्थ-शास्त्र में है। इससे यही सिद्ध होता है कि उन राजाओं ने पूर्व प्रथा को समयोचित परिवर्तन के साथ स्थिर रखा।

चंद्रगुप्त के पश्चात् उसका लड़का बिंदुसार सिंहासन पर बैठा जिसने कोई पचीस वर्ष राज्य किया। उसने अपने राज्य की सीमा दक्षिण की ओर अधिक बढ़ाई। जब उसका लड़का अशोक सन् ईसवी के २७२ वर्ष पूर्व गद्दी पर बैठा, तब राज्य की सीमा मद्रास के पास तक पहुँच गई थी। उड़ीसा की ओर के प्रांत कलिंग को भी, जो अब तक बचा हुआ था, अशोक ने जीत लिया। कलिंग देश महानदी और गोदावरी के बीच बंगाल की खाड़ी के किनारे का प्रदेश था, जिसमें कुछ भाग छत्तीसगढ़ का आ जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अशोक ने मध्य प्रदेश के पूर्वीय भाग को स्वयं जीता। अभिषेक होने के पूर्व इस प्रदेश के पश्चिमी भाग से उसका घनिष्ठ संबंध हो गया था क्योंकि वह बहुत समय तक उज्जैन का सूबेदार रहा था। यहाँ पर उसने एक वैश्यकुमारी से विवाह कर लिया था जो साँची के निकट रहती थी। साँची का विशाल स्तूप अशोक ही ने बनवाया था। इस महाप्रतापी सम्राट् के राज्य में बौद्धधर्म की अत्यंत वृद्धि हुई। प्रायः संपूर्ण भारत ही बौद्ध धर्मावलंबी नहीं बन गया, वरन् अन्य देशों में भी उसका प्रचुर प्रचार हुआ। वह क्या भिक्षु, क्या गृहस्थ, सबको उत्तेजना देता था कि उद्योग करो, परिश्रम करो, तुमको अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी; ऊँचे से ऊँचा स्थान तुम पा सकोगे। इस प्रकार के आदेश उसने अनेक शिलाओं और स्तंभों पर खुदवा दिए थे और अपने कर्मचारियों को उपदेश करने की आज्ञा दी थी। इसी प्रकार का लेख जबलपुर जिले के रूपनाथ की चट्टान पर खुदा हुआ है। भेड़ाघाट और उसके निकटस्थ त्रिपुरी (तेवर) के आसपास भी कई बौद्ध मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिन पर उस धर्म का बीज मंत्र खुदा हुआ है। ये मूर्त्तियाँ अशोक के समय के लगभग एक सहस्र वर्ष पीछे की हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म का पाया किस दृढ़ता के साथ जमाया गया था। त्रिपुरी कट्टर शैवों की राजधानी थी। उसकी सीमा के भीतर बौद्धधर्म का प्रचार बना रहना कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है। केवल जबलपुर जिले में ही नहीं, वरन मध्य प्रदेश के चारों कोनों में बौद्ध-

धर्म का प्रचार हो गया था, यहाँ तक कि चाँदा जिले की भद्रावती या भद्रपत्तन (वर्त्तमान भाँदक) के भी क्षत्रिय राजा बौद्ध हो गए थे। कदाचित् मध्य प्रदेश में भद्रावती से बड़ी नगरी किसी जमाने में भी नहीं रही। जिस समय सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री युवान च्वंग भारत में भ्रमण करने को आया था, उस समय वह भाँदक भी गया था। उसको वहाँ पर सौ संघाराम मिले थे जिनमें दस सहस्र बौद्ध भिक्षु रहते थे; परंतु कराल काल ने इन सबको कवलित कर लिया। इतने पर भी वहाँ अब तक अनेक भग्नावशेष विद्यमान हैं। चट्टान काटकर बनाया हुआ एक विहार अब भी मौजूद है जिसमें बुद्ध की तीन मूर्तियाँ हैं। वहाँ पर एक शिलालेख मिला है जिसमें वहाँ के बौद्ध राजा सूर्यघोष के द्वारा बौद्ध मंदिर बनवाए जाने का वर्णन है। इस राजा का पुत्र महल के शिखर पर से गिरकर मर गया था। उसी के लिये वह स्मारक बनवाया गया था। सूर्यघोष के पश्चात् उदयन राजा हुआ। उसके पश्चात् भवदेव हुआ, जिसने सुगत के इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया।

इसी प्रकार रायपुर जिले के तुरतुरिया नामक स्थान में बौद्ध भिक्षुणियों का विहार था। वहाँ पर बुद्धदेव की विशाल मूर्ति अभी तक विद्यमान है। बौद्ध धर्म मिट जाने पर भी इस स्थान पर अभी तक स्त्रियाँ ही पुजारिन होती हैं। सिरगुजा रजवाड़े में, जिसका पूर्वनाम झारखंड था, रामगढ़ नामक पर्वत है। वहाँ बौद्ध नाटकशाला और गुफाएँ हैं जिनमें पाली अक्षरों में लेख खुदे हैं और रंगीन चित्र खिँचे हैं। उसी लिपि में, सक्ती रजवाड़े के दमौदहरा नामक प्राकृतिक कुंड में भी लेख है। होशंगाबाद जिले की पचमढ़ी की मढ़ियाँ, बरार के अंतर्गत पातुर की गुफाएँ आदि मध्य प्रदेश में बौद्धधर्म के प्रचुर प्रचार के साक्षी हैं। बरार में तो सुप्रसिद्ध नागार्जुन ने जन्म ग्रहण किया था जिसने बौद्धधर्म के माध्यमिक संप्रदाय की जड़ जमाई थी। वह कुछ दिन रामटेक की एक गुफा में टिका था, जिसके कारण उसका नाम 'नागार्जुन गुफा' पड़ गया है। यह विस्तार अशोक के परिश्रम का

फल समझना चाहिए। अशोक प्रत्येक प्रकार के कष्ट सहने को उद्यत रहता था, वह सम्राट् ही नहीं वरन् भिक्षु भी था। 'धम्मपद' में लिखा है कि हाथसंयम, पादसंयम, वाक्संयम से उत्तम संयमी, आत्मदर्शी, समाधिस्थित, एकचारी, संतोषी पुरुष को ही भिक्षुक कहते हैं।

अशोक के समय मौर्य-प्रताप शिखर पर पहुँच गया। उसकी मृत्यु होते ही अवनति ने अपना पाया जमाया। अंत में मौर्यों के ही सेनापति पुष्यमित्र ने धोखा दिया और अंतिम राजा को मारकर वह आप गद्दी पर बैठ गया। इस प्रकार यह प्रदेश सन् ईसवी से १८५ वर्ष पूर्व तक मौर्यों के अधीन रहकर शुंगों के हाथ चला गया।

चतुर्थ अध्याय

विद्रोह-काल

शुंग वंश का प्रथम राजा पुष्यमित्र ही था। लाटायन श्रौत सूत्र मे लिखा है कि शुंगाचार्य किसी विश्वामित्र गोत्रवाले ब्राह्मण का नियोगज पुत्र था। उसी के वंशज शुंग कहलाए।

शुंग

मौर्यों से ब्राह्मण खार खाते थे, क्योंकि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को हटाकर बौद्ध धर्म का प्रचार कर दिया था। प्रभावशाली मौर्यों के सामने किसी की दाल गल नहीं पाई, परंतु जब अधिकार एक निर्बल राजा बृहद्रथ के हाथ में आया तब ब्राह्मणों ने सेना का अधिपति एक सबल ब्राह्मण को पा उसे उकसाकर अपना अभीष्ट सिद्ध किया। जब वह स्वामिघात करके राजा बन गया तब उसे अपने हिमायतियों को प्रसन्न करने के लिये बौद्धों को तंग करना पड़ा। उसने कई बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला, विहारों मे आग लगवा दी और अनेक प्रकार की पीड़ाएँ पहुँचाईं जिसके कारण बहुत से भिक्षु उसका राज्य छोड़कर अन्यत्र चले गए। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ रचा और पुन: हिंसामयी पूजा का प्रारंभ कर दिया जिसकी जड़ अशोक ने काट दी थी। पुष्यमित्र ने अपने युवराज अग्निमित्र को भिलसा-निकटस्थ बेसनगर में सूबेदार बनाकर भेज दिया था। इसने

बरार के राजा से लड़ाई ठानी और अपना अधिकार वर्धा नदी तक स्थिर कर लिया। कालिदास ने इसी अग्निमित्र को अपने मालविकाग्निमित्र नाटक का नायक बनाया है। पुष्यमित्र से कलिंग के जैन राजा खारवेल की एक बार ठन गई। जब खारवेल ने हरा दिया तब उसे मथुरा की ओर भागना पड़ा। शुंगों का राज ११२ वर्ष तक चला। पुष्यमित्र के मरने पर उसके वंशजों में शीघ्रता से परिवर्तन होता गया, जिससे जान पड़ता है कि कुछ गड़बड़ अवश्य हुई होगी। निदान इस वंश का अंतिम राजा देवभूति अपने ब्राह्मण-मंत्री वासुदेव के हाथ मारा गया। हत्या करने के पश्चात् वह सिंहासन पर बैठ गया परंतु पैंतालीस ही वर्ष के भीतर उसके वंश का नाश हो गया। इस वंश का नाम काण्वायन था। यह प्रकरण सन् ईसवी से २८ वर्ष पूर्व पूरा हो गया।

खारवेल

प्रसंगवश खारवेल का नाम अभी लिया जा चुका है, वह कलिंग देश का राजा था। बता चुके हैं कि अशोक ने बड़ा भारी युद्ध ठानकर कलिंग देश (वर्तमान उड़ीसा) को बड़े परिश्रम से जीता था। अशोक की मृत्यु होते ही वहाँ मौर्यों का अधिकार दूसरों के हाथ चला गया। इन्होंने भी अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के लिये कुछ उठा नहीं रखा। इनमें खारवेल बड़ा प्रतापी निकला। उसके समय मे भारतवर्ष में कोई ऐसा नगर नहीं था जो उसकी सेना को देखकर या नाम सुनकर काँप न उठता हो। सन् ईसवी के १६० वर्ष पूर्व की बात है। जान पड़ता है, ऋो व मूषिकदेश वर्तमान बरार या उसके आसपास के देश थे। बरार में पुष्यमित्र अपना अधिकार जमाए हुए था। कदाचित् इन दोनों में मुठभेड़ हो जाने का एक यह भी कारण हो। वैसे तो खारवेल जैन था, इसलिये पुष्यमित्र खार खाता रहा होगा, क्योंकि जैनों से ब्राह्मणों की कभी पटती ही नहीं थी। खारवेल के उत्तराधिकारियों का इतिहास ज्ञात नहीं है, परंतु जान पड़ता है कि आंध्रभृत्यों के उदय से जैन और शुंग दोनों को हानि पहुँची। रायपुर जिले के आरंग स्थान में एक प्राचीन वंश के राज्य का पता चलता है जिसे राजर्षितुल्यकुल कहते थे।

यदि इसका संबंध खारवेल से रहा हो तो समझना चाहिए कि खारवेल का वंश सैकड़ों वर्ष चला। परंतु गुप्तों के आविर्भाव तक मध्य प्रदेश के दक्षिणीय भाग के राजत्व का पूरा पूरा पता नहीं चलता।

शक जातीय विदेशियों के बहुत से सिक्के मिले हैं, जिनमें एक ओर यावनी भाषा में विरुद और नाम लिखे हैं और दूसरी ओर उसी का अनुवाद संस्कृत में है। यदि ये भारतवर्षीय प्रजा के लिये न बनाए गए होते तो संस्कृत-अनुवाद की कोई आवश्यकता न थी। इस प्रकार का सब से पुराना सिक्का भूमक नामी राजा का है जिसका समय सन् ईसवी की प्रथम शताब्दि का मध्य स्थिर किया गया है। जबलपुर के अंतर्गत भेड़ाघाट में कुछ प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं। उनमें लिखा है कि भूमक की पुत्री ने उनकी स्थापना की थी। इससे अनुमान होता है कि भूमक का राज्य इस ओर रहा होगा। भूमक के पश्चात् नहपाण का पता लगता है जो सन् ९० ईसवी के लगभग राज्य करता था। ये लोग चहराट् कहलाते थे। इन लोगों को तिलंगाने के आंध्रभृत्यों ने सन् १२४ ई० के लगभग हटा दिया। आंध्रों का अधिकार उत्तर की ओर बहुत दिन तक नहीं ठहरा। क्योंकि उज्जैन के राजा महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने अपने दामाद आंध्रराजा पुलुमायी से लड़ाई ठानकर चहराटों से पाए हुए देश का बहुत सा भाग छीन लिया। यह प्राय: १५० ईसवी की बात है। इसके ७५ वर्ष पश्चात् आंध्रों का अस्त ही हो गया। रुद्रदामन् भी विदेशी था। इसके पितामह चष्टन ने सन् ई० ८० के लगभग मालवे को अधीन कर उज्जैन में अपनी राजधानी जमाई थी। ये महाक्षत्रप उज्जैन में कई पीढ़ियों तक राज्य करते रहे। इनकी गद्दी पर बैठने की प्रथा विचित्र ही थी। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई अपने वयक्रम के अनुसार गद्दी के अधिकारी होते थे। सब भाइयों के हो चुकने पर बड़े भाई के लड़के को गद्दी मिलती थी। सन् ३०४ ई० तक इन महाक्षत्रपों का सिलसिला बराबर चलता रहा। फिर जान पड़ता है, कुषाणवंशी कनिष्क ने इन लोगों को मालवे से हटाकर अपना अधिकार जमा लिया। कुषाणवंशी भी तुर्की विदेशी थे, परंतु उनमें

कई शिव-उपासक हो गए थे। कनिष्क बौद्ध हो गया था; परंतु उसके पूर्वज वेम कडफाइसेस के सिक्कों में 'महाराजस राजधिराजस सर्व लोग—इस्वरस महिस्वरस हिमकथपिससत्रदस' लिखा मिलता है और उसमें नंदी और त्रिशूल-सहित शिव की मूर्ति भी रहती है। इससे स्पष्ट है कि वह माहेश्वर अर्थात् शिव-उपासक था। कुषाणवंश में कनिष्क ही सब से बड़ा प्रतापी राजा हुआ; परंतु मालवे में इस वंश का राज्य अधिक नहीं ठहरा। चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण ही में गुप्तवंश का उदय हुआ, जिसने विदेशियों को समूल उखाड़ कर फेंक दिया।

आंध्रभृत्य

आंध्रभृत्य वही हैं जिनको तिलंगे कहते हैं। ये गोदावरी और कृष्णा के बीच की भूमि के निवासी हैं। इनकी राजधानी कृष्णा के तट पर श्रीकाकुलम में थी। जिस प्रकार उत्तर में मौर्य प्रतापी राजा हो गए हैं उसी प्रकार दक्षिण में इन आंध्रों का जोर था। इनके पास एक लाख पैदल सिपाही, दो सहस्र सवार और एक सहस्र हाथियों की सेना थी। ये लोग पहले बिलकुल स्वतंत्र थे, परंतु मौर्यों ने इनको सन् ई० के २५६ वर्ष पूर्व अपने अधीन कर लिया था। किंतु अशोक के पश्चात् दक्षिण के राज्यों से मौर्यों का दबदबा बहुत कुछ उठ गया। आंध्रों ने तो अवसर पाकर अपने राज्य की सीमा नासिक तक बढ़ा ली, जिससे प्रायः नर्मदा के दक्षिण का सारा प्रांत इन द्राविड़ों के हाथ में चला गया। पहले उल्लेख हो चुका है कि आंध्रों ने चहरातों को हटाकर उज्जैन पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। इस वंश में गौतमी-पुत्र श्री शातकर्णी बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसी के समय आंध्रराज की विशेष वृद्धि हुई। उसका पुत्र राजा वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमायी था। यह सन् १३५ ई० में गद्दी पर बैठा। इसका विवाह उज्जैन के क्षत्रप रुद्रदामन् की लड़की से हुआ था, तिस पर भी ससुर ने दामाद से लड़ाई लेने और उसके देश को छीन लेने में कमी नहीं की। यहीं से आंध्रों का अधिकार संकुचित हो चला, जिसकी इतिश्री सन् २२५ ई० में हो गई।

पंचम अध्याय

गुप्त वंश

मगध देश में वैभव-हीन छोटे मोटे राजा रह गए थे। उनमें से एक का विवाह नैपाल के लिच्छवि-वंश में हो गया। इस राजा का नाम चंद्रगुप्त था। लिच्छवि-वंश में संबंध होने के कारण उसका गौरव बहुत बढ़ गया, क्योंकि वह वंश बहुत प्राचीन, प्रतापी और प्रभावशाली था। लिच्छवियों से उसे प्राचीन वैभवशाली राजधानी पाटलिपुत्र प्राप्त हो गई। तब तो चंद्रगुप्त ने अवसर पा अपना महत्त्व इतना बढ़ाया कि शीघ्र ही उसने महाराजाधिराज का विरुद धारण कर लिया और गुप्त नामक संवत्सर का प्रचार सन् ३२० ई० में कर दिया।

चंद्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त हुआ, जिसने चंद्रगुप्त मौर्य की नाईं अपने राज्य की सीमा तिलंगाने तक फैलाने का उद्योग किया और अनेक राजाओं को परास्त कर उन्हें मांडलिक बना दिया। जब वह दिग्विजय को निकला, तो सागर जिले ही से होकर दक्षिण को गया। जान पड़ता है कि सागर उसे बहुत प्रिय लगा, क्योंकि उसने बीना नदी के किनारे एरन में 'स्वभोग-नगर' रचा। उसके खंडहर अब तक विद्यमान हैं। एरन में एक शिलालेख मिला है। उसी में इस बात का उल्लेख पाया जाता है। यह पत्थर विष्णु के मंदिर में लगवाया गया था। समुद्रगुप्त के दिग्विजय की प्रशस्ति इलाहाबाद की लाट में खुदी है, जिसमें अनेक जातियों और राजाओं के नाम लिखे हैं, जिन्हें जीतकर उसने अपने वश में कर लिया अथवा उनका विध्वंस कर डाला था। उसमें से एक जाति खर्परिक है जो दमोह या उसके आसपास के जिलों में अवश्य रहती रही होगी। उस जिले के बटिहा-गढ़ नामक स्थान में चौदहवीं शताब्दी का एक शिलालेख मिला है जिसमें खर्पर सेना का उल्लेख है। ये प्राचीन खर्परिक से भिन्न नहीं हो सकते। जान पड़ता है, बड़े लड़ाकू होने के कारण इनको सैनिक बनाकर रखना मुसलमानों तक को अभीष्ट था, इसी कारण महमूद

सुलतान की ओर से इन लोगों की सेना बटिहागढ़ में रहती थी। पीछे से लड़ाई पेशावाली जातियों की जो गति हुई वही इनकी भी हुई। अब इन लोगों की एक अलग जाति लपरिया नाम की हो गई है जो बुंदेलखंड में विशेष पाई जाती है। इस जाति के लोग 'बसुदेवों' की नाईं अब भैंसे-भैंसों का व्यापार करते हैं। समुद्रगुप्त ने महाकोशल[१] अर्थात् छत्तीसगढ़ के राजा महेंद्र से लड़ाई ली और उसे हरा दिया। इसी प्रकार महाकांतार के राजा व्याघ्रदेव को भी हराया। वह कदाचित् बस्तर का कोई भाग रहा होगा जहाँ पर इस समय भी बड़ा भारी जंगल है। इलाहाबाद की प्रशस्ति में आटविक (जंगली) राज्यों के जीतने का भी जिक्र है। जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन काल से अष्टादश अटवी राज्य अर्थात् अठारह वनराज प्रसिद्ध थे। वे बहुत से वर्तमान मध्यभारत के रजवाड़ों में से थे। इनमें से निदान दो परिव्राजक व उच्च कल्प के महाराज गुप्तों के मंडलेश्वर हो गए थे। इन दोनों राजवंशों के कई शिला व ताम्र लेख मिले हैं जिनमें गुप्त-संवत् का उपयोग किया गया है। इनसे पता लगता है कि परिव्राजकों का आदि पुरखा देवाढ्य था।[२] उसका लड़का प्रभंजन और उसका दामोदर हुआ। दामोदर का पुत्र हस्तिन् प्रतापी हुआ। वह ४७५ ई० में विद्यमान था। उसका लड़का संक्षोभ हुआ। इसका एक ताम्रशासन मिला है जिसकी तिथि ५१८ ई० में पड़ती है।

१—जान पड़ता है, इस देश में 'महा' शब्द का विशेष महत्त्व था। देश का नाम महाकोशल, राजा का नाम महेंद्र, सबसे बड़े जंगल का नाम महाकांतार, सबसे बड़ी नदी का नाम महानदी, सबसे बड़े पर्वत का नाम महेंद्रगिरि, सबसे बड़े तालाब का नाम महासमुद्र और सिरपुर के सोमवंशी पांडव राजाओं की राजकीय उपाधि महाशिवगुप्त अथवा महाभवगुप्त। अचिरस्थायी बाहरी विजेताओं का भी अपने नामों में बिना 'महा' जोड़े कदाचित् काम नहीं चलता था। शरभपुरीय राजाओं के नाम भी महाजयराज और महासुदेवराज पाए जाते हैं।

२—देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४३, पृष्ठ ४०१।

इनके पड़ोसी उच्चकल्प के महाराजा थे जो उचहरा में राज्य करते थे। उच्चकल्प का ही अपभ्रंश उचहरा जान पड़ता है। इनकी वंशावली ओघदेव से आरंभ होती है जिसका विवाह कुमारदेवी से हुआ था। इनका पुत्र कुमारदेव हुआ जिसने जयस्वामिनी से विवाह किया। उनका पुत्र जयस्वामिन् हुआ। इसने रामदेवी से विवाह किया। उसका पुत्र व्याघ्र हुआ जिसने अज्झितादेवी को पटरानी बनाया। इनका पुत्र जयनाथ हुआ जिसके कई ताम्रशासन मिले हैं। इनमें संवत् अंकित हैं। जयनाथ सन् ४२२ ई० में विद्यमान था। उसका लड़का सर्वनाथ हुआ जिसका राज्यकाल ४४१ ई० के लगभग पड़ता है। इसके पश्चात् उसने अश्वमेध यज्ञ किया था, जो पुष्यमित्र के समय से बीच में कभी नहीं हुआ था। मौर्यवंश में चंद्रगुप्त का पोता अशोक और गुप्तवंश में चंद्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त दोनों समान तेजस्वी निकले। समुद्रगुप्त भारतीय नेपोलियन कहलाता है। यद्यपि कोई कोई उसे सिकंदर की उपमा देते हैं जिससे यह अर्थ निकलता है कि उसकी विजय चिरस्थायी नहीं थी। निदान यह तो मानना पड़ेगा कि दिग्विजय में वह अद्वितीय हो गया, उसी प्रकार धर्मप्रचार में अशोक से बढ़कर दूसरा नहीं निकला। समुद्रगुप्त केवल वीर ही नहीं था; वरन् वह योद्धा, कवि और उच्च श्रेणी का गायक भी था।

समुद्रगुप्त का देहांत ३७५ ई० के लगभग हुआ। तब उसका लड़का द्वितीय चंद्रगुप्त सिंहासन पर बैठा। इसके समय में प्रजा बड़ी

विक्रमादित्य

सुखी थी। यह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य कहलाता था, और कहा जाता है कि भारत के देशी राजाओं में कोई ऐसा नहीं हुआ जिसका शासन इसके शासन से बढ़कर रहा हो। इसकी पुष्टि चीनी-यात्री फाहियान के समान विद्वान् विदेशी भी करते हैं। प्रजावर्ग में अतुलित शांति और समृद्धि थी। इसके शिलालेख भिलसा के पास उदयगिरि और साँची में विद्यमान हैं।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का कुमारगुप्त राजा हुआ। इसने अपने पितामह के समान अश्वमेध यज्ञ किया, परंतु मध्य एशिया के हूणों ने आक्रमण करना आरंभ किया और गुप्त राज्य को बलहीन कर दिया। कुमार-गुप्त के मरते ही स्कंदगुप्त के राज्यकाल में हूणों के लगातार हमले होने लगे। इस प्रवाह को वह रोक न सका। निदान हूण उसके राज्य के भीतर घुस आए। स्कंदगुप्त की मृत्यु के चार ही वर्ष पश्चात् हूणों का राजा तोरमाण (तुरमानशाह) एरन में आ गया। उस समय एरन का प्रांत स्कंदगुप्त के भाई-बंदों के हाथ में बुधगुप्त राजा के अधीन था; परंतु वह स्वयं वहाँ का राजकाज नहीं देखता-भालता था। उसकी ओर से सुरश्मिचंद्र नामक मांडलिक यमुना और नर्मदा-मध्यस्थ प्रांत का शासन करता था। एरन में सुरश्मिचंद्र की ओर से मैत्रायणीय शाखा के ब्राह्मण मातृविष्णु और धन्यविष्णु[1] राज्य चलाते थे। इन्हीं के समय में तोरमाण ने सन् ४८४ ई० में अपना आधिपत्य जमा लिया था। एरन के वराह के वक्षःस्थल में इसका उल्लेख अभी तक विद्यमान है, परंतु हूणों का राज्य इस ओर स्थायी नहीं हुआ। गुप्तों का विध्वंस हूणों ने अवश्य कर डाला; परंतु राज्य किसी और के अधिकार में चला गया।

हूण-आक्रमण

मध्य भारत में यशोधर्म्मन् नाम का एक प्रतापी राजा हुआ, जिसने मगध के राजा से मैत्री करके सन् ५२८ ई० में हूणों को निकाल बाहर किया। यशोधर्म्मन् का आधिपत्य इस प्रदेश में अवश्य ही हो गया होगा, जब उसके इतिहासकार लिखते हैं कि उसका राज्य हिमालय से त्रावणकोर के महेंद्र-गिरि तक फैल गया था। यशोधर्म्मन् का राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला। छठी शताब्दी ही में उसका अंत हो गया।

यशोधर्मन्

अभी तक हम नर्मदा के उत्तरी ओर के राज्यों का वर्णन करते आए हैं, अब उसके दक्षिण की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता

१—इन्हीं का एक संबंधी दयितविष्णु बंगाल में जाकर पालवंशीय राजाओं का अधिष्ठाता हो गया।

है। दक्षिण में महाकोशल और विदर्भ दो बड़े देश थे जिनमें प्रति-भाशाली राजवंश हो गए हैं। ये एक दूसरे से लगे हुए थे। पूर्व की ओर महाकोशल का विस्तार था और पश्चिम की ओर विदर्भ था। जान पड़ता है कि इनकी सीमा चाँदा जिले के निकट मिली हुई थी। महाकोशल की प्राचीन राजधानी भद्रावती (वर्त्तमान भाँदक) चाँदा जिले में थी। खारवेल के पूर्व महाकोशल में किसका राज्य था, इसका पता नहीं चलता। अनुमान से मौर्यों का आधिपत्य मान लिया जा सकता है। बौद्धध्वंसावशेष इसकी गवाही भी देते हैं। पहले बता आए हैं कि चौथी शताब्दी में महाराज समुद्रगुप्त ने महाकोशल को जीत लिया था। उस समय वहाँ महेंद्र नाम का राजा था, परंतु उसके उत्तराधिकारी कौन हुए, इसका कुछ भी पता नहीं लगता। रायपुर जिले के आरंग नामक ग्राम में एक राजर्षितुल्य कुल के राजा का ताम्रशासन मिला है। उसकी तिथि सन् ६०१ ईसवी में पड़ती है। उस समय महाराज भीमसेन द्वितीय का राज्य था। उसके पिता का नाम दयितवर्म्मन् द्वितीय, उसके पिता का विभीषण, उसके पिता का दयित प्रथम और उसके पिता का शूर नाम था। कदाचित् ये महेंद्र के वंशज रहे हों। परंतु उदयगिरि के पाली लेख में खारवेल को 'राजर्षिवंशकुलविनि:सृत' लिखा है। यदि राजर्षितुल्यकुल और राजर्षिवंशकुल एक ही हों तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि खारवेल के वंश का राज्य महाकोशल में सातवीं सदी तक स्थिर रहा आया। कलिंग में चाहे उनकी पद्धति उखड़ गई हो परंतु दंडकवन में उनके वंशजों का अधिकार बना रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। राजर्षितुल्य कुलवाले कोई भी रहे हों, उनके ताम्रशासन से यह बात तो सिद्ध है कि महाकोशल के मध्यस्थान रायपुर में सौ वर्ष से अधिक समय तक उनका राज्य बना रहा। यद्यपि भीमसेन को 'महाराज' लिखा है, परंतु इनकी विरुदावली ऐसी नहीं जान पड़ती कि ये स्वतंत्र या चक्रवर्ती राजा रहे हों। कदाचित् ये भद्रावती के बौद्ध राजाओं के मांडलिक रहे हों। जिस समय चीनी यात्री युवानच्वांग

राजर्षितुल्यकुल

महाकोशल की राजधानी में सन् ६३९ ई० में आया था, उस समय वहाँ का राजा क्षत्रिय परंतु बौद्ध-धर्मावलंबी था। वे राजा भद्रावती में कब से राज्य करते थे, इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता; यदि संपूर्ण महा-कोशल उनके अधिकार में रहा हो, तो आरंग के राजा अवश्य उनके मांडलिक रहे होंगे। मध्य प्रदेश में बौद्ध-धर्म बहुत दिनों तक बना रहा, परंतु अंत में भद्रावती के बौद्ध राजा शैव हो गए और उन्होंने अपनी प्राचीन राजधानी को स्थानांतरित कर रायपुर जिले में महानदी के किनारे श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) में जमाया। ये अपने को सोमवंशी पांडव कहते थे। इनके वंशजों के नामों के अंत में बहुधा 'गुप्त' शब्द रहने से इतिहासकार इनको 'पिछले गुप्त' कहने लगे हैं; परंतु इनसे और पटना के आदिगुप्तों से कोई संबंध नहीं था।

सोमवंशी पांडव

सोमवंशी पांडवों का पता उदयन तक लगता है, जो प्राचीन राजधानी भाँदक में राज्य करता था। उसका लड़का इंद्रबल, उसका नन्नदेव, उसका महाशिवगुप्त तीव्रदेव, उसका भतीजा हर्षगुप्त और उसका लड़का महाशिवगुप्त बालार्जुन हुआ। किस राजा के समय में श्रीपुर में राजधानी स्थापित की गई इसका कहीं लेख नहीं है; परंतु जान पड़ता है कि तीव्रदेव की राजधानी वहीं पर थी। बालार्जुन के समय तक इस वंश का प्रताप बढ़ता गया और महाकोशल में प्रत्येक प्रकार की वृद्धि होती गई। ताम्रशासनों की भाषा से जान पड़ता है कि इन राजाओं की सभाओं में अत्यंत सुशिक्षित और धुरंधर पंडित रहा करते थे। राज्यशासन की प्रणाली भी अच्छी थी, परंतु जो चढ़ता है वह गिरता है। एक दिन वह आया कि सोमवंशियों को यथानाम तथागुणवाली राजधानी श्रीपुर को छोड़कर, विनीत हो, विनीतपुर का आश्रय लेना पड़ा। शरभ-पुर-वंशीय उनके स्थानापन्न हुए। इस वंश के दो ही राजाओं का नाम ज्ञात है, अर्थात् महासुदेवराज और महाजयराज। इनके पश्चात् ताम्रशासनों में न वंशावली दी गई है और न कोई विशेष विरुद पाया जाता है। इनकी मोहरों में यह श्लोक पाया जाता है—"प्रसन्नहृदय-

स्यैव विक्रमाक्रांतविद्विष: । श्रीमत्सुदेवराजस्य शासनम् रिपुशासनम् ॥" इन्होंने जो गाँव प्रदान किए हैं वे रायपुर और बिलासपुर जिलों के बीचोंबीच पड़ते हैं। वे शासन शरभपुर से लिखे गए थे, जिसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लगा। किसी किसी के अनुसार यह शरभवरम् है जो गोदावरी के उस पार स्थित है। शरभपुरीय राजा बहुत दिनों तक नहीं टिके। उनके हाथ से राज्य दूसरों के हाथ में बहुत जल्दी चला गया। परंतु वह सोमवंशी पांडवों के अधिकार में लौट कर नहीं गया।

त्रिकलिंगाधिपति

सोमवंशियों की नवीन राजधानी विनीतपुर अब बिनका नाम से प्रसिद्ध है। यह सोनपुर रजवाड़े में महानदी के तट पर, श्रीपुर से सीधी लकीर में जाने से, सौ मील पड़ेगी। नदी द्वारा नाव पर कोई जाय तो १८० मील पड़ेगी। जान पड़ता है कि महाशिवगुप्त बालार्जुन के पश्चात् श्रीपुर विपत्तिग्रस्त हुआ। उसका उत्तराधिकारी महाभवगुप्त उपाधिधारी राजा वहाँ से भागकर विनीतपुर मे जा बसा। इसके हाथ में महाकोशल का पूर्वीय भाग फिर भी बच रहा था, जिसके बढ़ाने का उद्योग इसके वंशजों ने अवश्य किया और क्रमश: उड़ीसा और तिलंगाने को जीतकर त्रिकलिंगाधिपति का विरुद धारण कर लिया। जान पड़ता है कि महाभवगुप्त जनमेजय ने पहले पहल यह पदवी धारण की। इसके ताम्रशासनों में उसका पूर्ण विरुद यों पाया जाता है—"परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री शिवगुप्तदेव पादानुध्यात परममाहेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर सोमकुलतिलक त्रिकलिंगाधिपति श्री महाभवगुप्त राजदेव: ।" मनन करने से जान पड़ेगा कि महाभवगुप्त के पिता शिवगुप्त के नाम के आगे न तो 'महा'शब्द है न 'त्रिकलिंगाधिपति'। महाभवगुप्त जनमेजय सिरपुर से निकाले हुए महाभवगुप्त का पोता जान पड़ता है। उसका लड़का शिवगुप्त हीन दशा में उत्पन्न हुआ, तब महा-महा सब भूल गया; परंतु उसके लड़के ने त्रिकलिंग को जीतकर प्राचीन प्रतिष्ठा पुन: प्राप्त कर ली

और वंशपरंपरा का नाम पूर्ण रूप से पुनः धारण कर लिया। खिरपुर वंश में राजाओं के दो ही नाम चलते थे, अर्थात् महाशिवगुप्त और महाभवगुप्त। बाप यदि शिवगुप्त हुआ तो लड़का भवगुप्त होता था। प्रत्येक के जन्म-नाम व्यक्तिगत होते थे, परंतु गद्दी पर बैठते ही राजकीय नाम धारण करना पड़ता था। इस प्रकार तीवरदेव महाशिवगुप्त के नाम से प्रसिद्ध था। उसका उत्तराधिकारी उसका भतीजा हर्षगुप्त हुआ, जिसका राजकीय नाम महाभवगुप्त रहा होगा। हर्षगुप्त के लड़के का नाम महाशिवगुप्त बालार्जुन लेखों में मिलता है। इसका लड़का महाभवगुप्त रहा होगा; पर उसके कोई ताम्रशासन नहीं मिले। वह बेचारा स्वयं विपत्ति में था, फिर ताम्रशासन-द्वारा दान देने की उसे कहाँ से सूझती! उसके लड़के ने महाशिवगुप्त के बदले अपना नाम केवल शिवगुप्त रखा। इस शिवगुप्त का लड़का जनमेजय हुआ, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। जनमेजय का लड़का महाभवगुप्त ययाति हुआ, जिसने विनीतपुर का नाम बदल कर ययातिनगर कर दिया। उसका लड़का महाभवगुप्त भीमरथ हुआ, जिसके पश्चात् सोमवंशियों का पता नहीं लगता। प्रत्यक्षतः उनका राज्य दूसरों के हाथ में चला गया।

षष्ठ अध्याय

विदर्भ

हम अभी तक मध्य प्रदेश के, विशेषकर उत्तरीय भाग के, राजाओं का वर्णन करते आए हैं। अब नर्मदा के दक्षिण के राजाओं की कुछ चर्चा करने का समय आ गया।

पुराणों में विदर्भ (वर्तमान बरार) का बहुत अधिक उल्लेख है। उनमें लिखा है कि यदुवंश में विदर्भ नाम का एक राजा हुआ था जिसके नाम से देश का नाम विदर्भ चलने लगा; यद्यपि जान तो ऐसा पड़ता है कि बरार में दर्भ या कुश की हीनता के कारण देश का नाम

विदर्भ (दर्भविहीन) रखा गया। विदर्भ से लगे हुए प्रांत का नाम, जहाँ कुश की बहुलता थी, कोशल रखा गया था। पौराणिक कथा के अनुसार कोशल का नाम भी रामचंद्र के पुत्र कुश राजा के नाम से रखा बतलाया जाता है। स्मरण रहे कि यहाँ पर जिस कोशल का वर्णन हो रहा है वह उत्तर कोशल अर्थात् अवध नहीं है। वह दक्षिण कोशल या महाकोशल है जिसकी सीमा बरार से लगाकर उड़ीसा तक थी। विदर्भ में यादवों का राज्य बहुत प्राचीन काल से था। पुराणों में सबसे बड़ी वंशावली इन्हीं की मिलती है, परंतु ऐतिहासिक काल में मौर्यों से पूर्व का वृत्तांत अवगत नहीं है। मौर्यकाल के चिह्न भी बरार में बहुत कम हैं, परंतु इसमें बिलकुल संदेह नहीं है कि अशोक का राज्य विदर्भ में था। निजाम के राज्यांतर्गत रायचूर जिले के मस्की नामक ग्राम में अशोक का एक शिलालेख मिला है जो रूपनाथ के लेख से बहुत मिलान खाता है। जान पड़ता है कि विदर्भ में जो राजा पहले राज्य करते थे, उनको अशोक ने निकाला नहीं था। वे उसके मांडलिक हो गए थे, परंतु जब शुंगों ने अपना अधिकार जमाया तब वे फिर स्वतंत्र हो गए। प्रथम शुंगराजा पुष्यमित्र के लड़के अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा से लड़ाई ली थी और उसका आधा राज्य उसके चचेरे भाई को दिलवाया था जिनके बीच की सीमा वरदा (वर्त्तमान वर्धा) नदी बनाई गई थी। मालविकाग्निमित्र नाटक में जिस राजा को अग्निमित्र ने हराया उसका नाम यज्ञसेन लिखा है। कदाचित् यह आंध्रवंशीय राजा रहा हो, जिनका परिचय हम दे चुके हैं। कलिंग के जैन राजा खारवेल ने पश्चिम के आंध्रवंशीय राजा ही को हराया था। तभी से जान पड़ता है कि विदर्भ का संबंध आंध्रों से कुछ काल तक टूट गया। बरार जैनियों के अधिकार में कब तक बना रहा इसका ठीक पता नहीं लगता, परंतु वह थोड़े दिनों में वाकाटकों के हाथ चला गया।

अमरावती, छिंदवाड़ा, सिवनी और बालाघाट जिलों में वाकाटक राजाओं के ताम्रशासन मिले हैं। उनमें इस वंश का परिचय यों दिया है—"विष्णुवृद्ध सगोत्रस्य श्रीमद्वाकाटकानां महाराज श्रीप्रवर-

सेनस्य" जिससे जान पड़ता है कि वाकाटक नाम की कोई जाति थी जिसके विष्णुवृद्ध गोत्र के नायक राजा थे। इनका आदिपुरुष

वाकाटक

विंध्यशक्ति था, जिसका पुत्र प्रवरसेन (प्रथम) बड़ा प्रतापी राजा जान पड़ता है। उसने अग्नि-ष्टोम, आप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, साद्यस्क और चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। उसका लड़का गौतमी-पुत्र था जिसका विवाह भारशिवों के राजा भवनाग की कन्या से हुआ था। इनका पुत्र रुद्रसेन (प्रथम) हुआ, उसका पृथ्वीषेण, उसके रुद्रसेन द्वितीय हुआ, जिसको महाराजाधिराज देवगुप्त की कन्या प्रभावती गुप्ता ब्याही थी। इनका पुत्र प्रवरसेन (द्वितीय) हुआ जिसने अमरावती जिले में चम्मक नामक ग्राम की भूमि एक हजार ब्राह्मणों का दान में बाँट दी थी। चम्मक इलचपुर से चार मील है। ताम्रशासन में लिखा है कि चम्मक भोजकट राज्य में था, जिससे यह भी पता लग जाता है कि इलचपुर का प्रांत पहिले भोजकट कहलाता था। प्रवरसेन द्वितीय का लड़का नरेंद्रसेन हुआ और उसका पृथ्वीषेण द्वितीय। इनके पश्चात् देवसेन और हरिषेण राजा हुए। फिर वंश का लोप हो गया। इन लोगों ने अपना राज्य उत्तर में बुंदेल-खंड तक फैला लिया था। दक्षिण में गोदावरी तक, पश्चिम में अजंटा और पूर्व में बालाघाट तक इनका आधिपत्य था। इनकी मुहरों में निम्नलिखित श्लोक खुदा रहता था—"वाकाटकललामस्य क्रमप्राप्त-नृपश्रियः। राज्ञः प्रवरसेनस्य शासनं रिपुशासनम्।" जान पड़ता है, इनकी राजधानी प्रवरपुर में थी। इसका पता अभी तक नहीं लगा। यदि प्रवरपुर का अपभ्रंश पवरार या पवनार हो गया हो तो यह स्थान वर्धा शहर से ६ मील पर धाम नदी के किनारे का पौनार हो सकता है। वहाँ कई पुरानी मूर्त्तियाँ भी निकली हैं और दंतकथा के अनुसार प्राचीन काल में वह बहुत प्रसिद्ध रहा है।

जिस समय श्रीपुर के सोमवंशियों का अधःपतन हुआ और शरभपुरीय राजाओं ने अपना अमल स्थिर किया, उस समय जान पड़ता

है महाकोशल का पश्चिमी भाग शैलवंशी राजाओं के हाथ जा पड़ा। इस वंश का एक ही ताम्रशासन बालाघाट जिले में मिला है। उसमें लिखा है कि शैलवंश में सुरावर्द्धन नामक राजा हुआ और उसका लड़का पृथुवर्द्धन हुआ, जिसने गौर्ज्जर देश (गुजरात) को जीत लिया। उसका लड़का सौवर्द्धन हुआ, जिसके तीन औरस पुत्र थे। उनमें से एक ने पौंड्र (बंगाल व बिहार) के राजा को मारकर उसका देश ले लिया। तीसरे लड़के ने काशीश को मारकर काशी अपने स्वाधीन कर ली। उसका लड़का जयवर्द्धन (प्रथम) हुआ, जिसने विंध्या के राजा को मारकर विंध्या ही में अपना निवास स्थापित किया। उसका लड़का श्रीवर्द्धन हुआ और उसका पुत्र "परममाहेश्वर सकलविंध्याधिपति महाराजाधिराज परमेश्वर श्री जयवर्धनदेव" (द्वितीय) हुआ, जिसने बालाघाट का खार्दा (?) नामक ग्राम रधोली के सूर्य-मंदिर को भोगार्थ लगा दिया। यह दान श्रीवर्द्धनपुर राजधानी से प्रदान हुआ था। इस स्थान का पता अभी तक नहीं लगा, परंतु जान पड़ता है कि वह रामटेक के निकट कहीं पर रहा होगा। रामटेक से तीन-चार मील पर नगरधन (प्राचीन नंदिवर्द्धन) नामक ग्राम है। संभव है कि प्रथम विंध्यनरेश श्रीवर्द्धन ने यहीं पर अपने नाम पर राजधानी स्थापित की हो और उसके पश्चात् किसी नंदिवर्द्धन नामक वंशज ने उसका नाम पलटकर अपने नाम पर राजधानी का नाम चलवा दिया हो। जो हो, इतना तो पक्का है कि बालाघाट और नागपुर की ओर का प्रांत शैलवंशियों के अधीन था। इस वंश के कृत्यों के वर्णन से जान पड़ता है कि वह ऐसा-वैसा वंश नहीं था। उसने बड़े बड़े नरेशों के राज्य छीन लिए थे; परंतु बीस वर्ष पूर्व भारत के इतिहासकारों को उसका नाम तक नहीं ज्ञात था।

शैलवंशी

अब महाकोशल के पश्चिमी भाग से और थोड़ा पश्चिम को चलकर जब हम विदर्भ पर दृष्टि डालते हैं, तो वाकाटक का नाटक समाप्त और राष्ट्रकूटों का अभिनिवेश दृग्गोचर होता है। ये राठौर

राजपूत थे। इनकी मुख्य राजधानी मान्यखेट (वर्तमान मालखेड़) में थी। मालखेड़ बरार के दक्षिण में निजाम के राज्य में है। जान पड़ता है कि अचलपुर (वर्तमान इलचपुर) में राष्ट्रकूटों का प्रतिनिधि या सूबेदार रहता था और वहाँ से वह बरार, बैतूल, छिंदवाड़ा, वर्धा, चाँदा आदि पर शासन करता था। इन सब स्थानों में उनके लेख मिले हैं। चाँदा जिले के भाँदक में जो ताम्रशासन मिला वह प्रथम कृष्ण का है, जिसकी तिथि ७७२ ईसवी में पड़ती है। वर्धा जिले की देवली के लेख का समय ९४० ईसवी है। इस काल के बीच दक्षिण से चालुक्यों और उत्तर से परमारों ने धावे किए, परंतु वे ठहरे नहीं, इसलिये राठौरों का राज्य बहुत दिनों तक बना रहा।

राष्ट्रकूट

सातवीं शताब्दी में थानेश्वर के राजा हर्षवर्धन के वैभव ने संभवतः दक्षिण में नर्मदा तक सारा देश उसके अधिकार में कर दिया। हर्ष बड़ा प्रतापी राजा था। पैदल सिपाहियों के अतिरिक्त उसके पास साठ सहस्र हाथी और एक लाख सवारों की सेना थी। उसने अपने बाहुबल ही से अपना राज्य बढ़ाया और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाई। सन् ६०६ ई० में जब वह गद्दी पर बैठा, तब से उसने अपने नाम पर हर्षसंवत् चला दिया। वह अहिंसा का बड़ा पक्षपाती था। उसके समय में किसी भी जंतु के मार डालने या मांस खाने के अपराध में कठोर दंड दिया जाता था। हर्ष अपने विस्तीर्ण राज्य की देखरेख स्वयं दौरा करके किया करता था। उसके समय में बेगार से कराए हुए काम के लिये मजदूरी दी जाती थी।

हर्षवर्द्धन

शिक्षा की ओर उसका विशेष ध्यान था। जान पड़ता है, वह स्वयं बहुत अच्छा कवि और नाटककार था। उसके दरबार में प्रसिद्ध कवि बाण रहा करता था, जिसने अत्यंत क्लिष्ट संस्कृत में 'हर्षचरित' लिखकर अपनी अपूर्व शक्ति का परिचय दिया। हर्ष ने नगरों और देहातों में भी अनेक धर्मशालाएँ बनवा दी थीं, जिनमें एक एक वैद्य भी रहा करता था। जिसको आवश्यकता हो उसको बिना मूल्य औषधि देना

वैद्य का काम था। सागर हर्ष के राज्य में सम्मिलित रहा होगा, परंतु कदाचित् वैद्यों के सिवा उसके समय के कोई भी चिह्न अब विद्यमान नहीं हैं। सागर जिले में गाँव गाँव नहीं तो मुख्य मुख्य गाँवों में वैद्य मिलेंगे, जो बहुधा धर्मार्थ वैद्यक किया करते हैं। कदाचित् यह प्रथा हर्ष के समय से ही चली हो। हर्ष की मृत्यु सन् ६४६ ई० में हुई। उसके संतान न होने से उसके मरते ही अराजकता-सी फैल गई, और जिससे जहाँ बना वह वहाँ का राजा बन बैठा।

सप्तम अध्याय

कलचुरि

अब नर्मदा के उत्तरीय भाग में पुनः लौटकर हमें देखना चाहिए कि उस ओर हर्ष के बाद क्या हाल हुआ। उस जमाने का दो सौ एक वर्ष का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है, परंतु जबलपुर की ओर कलचुरियों ने अपना सिलसिला जमाना आरंभ कर दिया था। इनके प्रबल प्रताप ने मध्यप्रदेशांतर्गत राज्य को ही नहीं, वरन् उसके चारों ओर के दूर दूर के राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। डाक्टर कीलहार्न के अनुमानानुसार इनकी राजधानी त्रितसौर्य[१] में थी, जिसका कि अभी तक पता नहीं लगा।

प्राचीन राजधानी

१—यह अनुमान रत्नपुर में मिले हुए एक कुछ टूटे शिलालेख पर से किया गया है, जिसमें त्रितसौर्य का नाम दो श्लोकों में आया है। वे ये हैं—

तेषां हैहयभूभुजां समभवद्वंशे स चेदीश्वरः
श्री कोकल्ल इति स्मरप्रतिकृतिर्विश्वप्रमोदो यतः।
येनायं त्रितसौर्य [सैन्यबलमाया] मेन मातुं यशः
स्वीयं प्रेषितमुच्चकैः कियदिति ब्रह्मांडमंतःक्षिति ॥ ४ ॥
प्राप्तेषु कलिङ्गराजमसमं वंशःक्रमादात्मजः
पुत्रं शत्रुकलत्रनेत्रसलिलस्फीतं प्रतापद्रुमम्।

कलचुरियों ने सन् २४८ ईसवी में अपना नया संवत् चलाया था, जो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक चलता रहा और जिसका उपयोग अन्य राजा

येनायं त्रितसौर्यकोशमक्षीकर्त्तुं विहायान्वय-

क्षोणीं दक्षिणकोशलो जनपदो बाहुद्वयेनार्जितः ॥ ६ ॥

ऊपर के पहले श्लोक में त्रितसौर्य के पश्चात् के ६ अक्षर टूट गए हैं और जो कोष्ठक के भीतर दिए गए हैं, वे केवल मैंने अनुमान से भर दिए हैं। यह निश्चित नहीं है कि मूलश्लोक में उस स्थल पर कौन से अक्षर थे। डाक्टर कील-हार्न ने पहले श्लोक का अर्थ यों किया है—"इन हैहय राजाओं के वंश में भी कोकल्ल नामक चेदि का शासक हुआ, जो कामदेव की मूर्त्ति ही था, जिससे विश्व को प्रमोद मिलता था और जिसके द्वारा पृथ्वी पर होकर अपने निज यश को नापने के लिये, कि वह कितना होगा, यह त्रितसौर्य (का रहनेवाला) ब्रह्माण्ड में ऊँचा भेजा गया।" मैं श्लोक के उत्तरार्द्ध का जो अर्थ लगाता हूँ, वह यह है—"जिसने त्रितसौर्य की सेना को उसकी विपुलता-द्वारा अपने निजी यश को स्पष्ट रूप से नापने के लिये, कि ब्रह्माण्ड के बीच और पृथ्वी पर कितना है, भेजा (अर्थात् त्रितसौर्य के विपुल सैन्य को हराकर चारों ओर अपना यश फैला दिया)। वेदों में चेदि और तृत्सुजातियों का नाम आया है। तृत्सु लोगों का राजा दिवो-दास बड़ा पराक्रमी था। उसने तुर्वसु, द्रुह्यु और संबर को मारा और यदु और नहुष-वंशियों को हराया। इसका पुत्र सुदास हुआ। वैदिक युद्धों में इसका युद्ध सबसे बड़ा समझा जाता है। इसके विपक्षी अनेक राजाओं ने मिलकर इसे हराना चाहा, परंतु उनका प्रयास निष्फल हुआ और वे सब पराजित होकर अपना सा मुँह लेकर रह गए। विजयी तृत्सुजाति के लोगों को हराना उस समय जगत् में यश की सीमा समझी जाती रही होगी। इसी बात की उपमा इस श्लोक में दी हुई जान पड़ती है और त्रितसौर्य का अर्थ तृत्सुजातीय जान पड़ता है, न कि किसी स्थान का नाम। किंतु दूसरे श्लोक में कहा है कि कोकल्लदेव का वंशज कलिंगराज त्रितसौर्य का कोश क्षीण न करने के अभिप्राय से अपने बान्धवों की सेना को छोड़ दक्षिणकोशल को चला गया। इससे पुनः अनुमान के लिये जगह मिल जाती है कि त्रितसौर्य हैहयों की राजधानी थी, जहाँ के कोश को कम न करने के हेतु राजा के भाई-बंधु अन्यत्र चले गए।

भी करते रहे। इसी से प्रकट हो जायगा कि ये लोग कितने प्रभावशाली नृपति थे। कलचुरि, हैहयों की एक शाखा है, जिनका वर्णन पुराणों में बहुत आता है। ताम्रलेख आदि में कलचुरियों का सबसे प्राचीन उल्लेख सन् ५८० ई० में मिलता है, जब कि बुद्धराज राजा था। उस समय जबलपुर की ओर गुप्तों के मांडलिक परिव्राजक महाराजाओं का अमल था। इससे स्पष्ट है कि बुद्धराज ने मध्य प्रदेश में कभी राज्य नहीं किया। इस प्रदेश में कलचुरियों के आधिपत्य का समय प्रायः ८७५ ई० से जान पड़ता है, परंतु विजयराघोगढ़ के निकट उचहरा में इनके मांडलिक रहते थे, जो उच्चकल्प के महाराजा कहलाते थे। इनके कई लेख जबलपुर जिले में मिले हैं, जिनकी तिथियाँ सन् ४७५ और ५५४ ई० के बीचोंबीच पड़ती हैं। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उचहरा राज्य के आसपास ही कहीं कलचुरियों की पुरानी राजधानी रही होगी। यह प्रांत वर्तमान बघेलखंड में पड़ता है। रीवाँ

मेरी समझ में इस अर्थ से तो हैहयों की दरिद्रता दरसेगी, न कि प्रशंसा। मेरी समझ में फिर भी त्रितसौर्य शत्रु जाति का बोधक है। कलिंगराज 'द्रोणी' को छोड़कर चले गए, जिससे शत्रुओं का खर्च कम हो गया। उनके रहने से लड़ाई जारी रहती, जिससे त्रितसौर्य जाति का कोश क्षीण होता जाता। इससे उनकी महानुभावना प्रकट होती है। चेदिवंश बड़ा उदार-चरित्र था। ऋग्वेद के आठवें मंडल में एक उदाहरण भी लिखा है कि चेद-पुत्र कसु ने एक कवि को १०० भैंसे और दस हजार गायें दी थीं। वैदिक काल में यह अवश्यमेव बड़ा भारी दान समझा जाता रहा होगा और करोड़पतियों के होते भी इस जमाने में भी न्यून नहीं है। मिश्रबंधुओं ने तृत्सु लोगों को सूर्यवंशी माना है। हैहय अपने को सदैव चंद्रवंशी कहते आए हैं। क्या त्रितसौर्य-चर्चा में चंद्रवंशियों की, महाप्रतापी सूर्यवंशियों की हीनता दिखलाकर, स्तुति तो नहीं छिपी है? जो हो, इस लंबी टिप्पणी के लिखने का अभिप्राय यह है कि कदाचित् विज्ञ पाठकों की नजर में पड़ने से कोई महानुभाव इस जटिल समस्या की पूर्ति कर दें, क्योंकि मुझे न तो डा० कीलहार्न के श्लोकार्थ से संतोष है और न अपने ही लगाए अर्थ से।

से चार मील पर, रायपुर नामक ग्राम में, कलचुरि क्षत्रियों की अब भी बहुलता है। उनके प्राचीन नाम का अपभ्रंश होकर अब करचुलिया हो गया है।

प्राचीन राजधानी से उठकर कलचुरियों ने जबलपुर के निकट ६ मील पर त्रिपुरी नगरी में अड्डा जमाया। वहाँ त्रिपुरेश्वर महादेव अब भी विद्यमान हैं। त्रिपुरी का नाम त्रिपुरेश्वर के नाम से पड़ा या त्रिपुरेश्वर त्रिपुरी या त्रिपुरनगर के महादेव होने से कहलाए, इसके निर्णय के लिये सामग्री नहीं है; परंतु त्रिपुरी कलचुरियों के आगमन के पूर्व ही से प्रख्यात थी। इसका प्रमाण वहाँ के प्राचीन सिक्कों से मिलता है। ये सिक्के सन् ईसवी से ३०० वर्ष पूर्व के हैं। इनमें नर्मदा नदी का चित्र बना है। नर्मदा त्रिपुरी के पार्श्व ही में है। त्रिपुरी का वर्तमान नाम तेवर है। वहाँ पर अनुपम कारीगरी के प्राचीन ध्वंसावशेष अब भी विद्यमान हैं, यद्यपि सड़क के ठेकेदारों ने गत सौ वर्ष के भीतर लाखों मन पत्थर सुंदर हर्म्यों और प्रासादों से निकाल लिए और इमारतों का नाश कर दिया है। वहाँ के गढ़े-गढ़ाए पत्थरों के ढोने के लिये ट्रामवे लगाई गई थी और पत्थर मिट्टी के मोल खरीदे गए थे, तिस पर भी वहाँ के मालगुजार को प्राय: पौन लाख रुपया इसी अनर्थ से मिल गया था। इससे सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पत्थर का कितना बहुत सा काम था, जो तोड़-फोड़कर सड़कों और पुलों में लगा दिया गया। मिरजापुर की सड़क के पुलों में अधफूटी मूर्त्तियाँ इसकी साक्षी देती हैं। जो थोड़ी-बहुत मूर्तियाँ बच गई हैं, उनसे कलचुरि-शिल्प की उत्तमता स्पष्ट दीख पड़ती है।

त्रिपुरी

त्रिपुरी के राजाओं की सिलसिलेवार वंशावली कोकल्लदेव से आरंभ होती है। उसका विवाह चंदेलों में हुआ था और उसने अपनी कन्या दक्षिण के राठौर राजा द्वितीय कृष्ण को ब्याही थी। कोकल्ल ने इस राजा को सिंहासन प्राप्त करने में बड़ी सहायता दी थी, क्योंकि अन्य रिश्तेदारों ने गद्दी के

आदिराजा

लिये झगड़ा किया था। इसी तरह उसने गुजरात के राजा भोज, चित्रकूट के चंदेल राजा हर्षदेव और नैपाल की तराई के शंकरगण की रक्षा की थी। इससे स्वयं सिद्ध है कि कोकल्ल बड़ा भारी राजा था। कोकल्ल के १८ पुत्र थे। जेठे का नाम मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल था। वह त्रिपुरी के सिंहासन पर सन् ६०० ई० के लगभग बैठा और उसके भाई अनेक मंडलों के मांडलिक बना दिए गए। कुछ भाइयों ने बिलासपुर जिले की ओर मंडल पाए। उनमें से एक लाफा जमींदारी के अंतर्गत तुम्माण में जाकर जम गया। यह स्थान स्वाभाविक किला-सा है, क्योंकि यह चारों ओर से ऊँचे पहाड़ों से घिरा हुआ है, केवल उपरोरा की ओर से भीतर जाने को मार्ग है। प्राचीन काल में राजा लोग इस प्रकार के सुरक्षित स्थानों को अपना निवासस्थान बनाते थे। अठारह लड़कों में से दो ही ऐसे निकले, जिन्होंने अपने वंश की कीर्ति का प्रसार चारों ओर कर दिया। तुम्माण की शाखा महाकोशल और त्रिकलिंग को अपने स्वाधीन करने में दत्तचित्त हुई और त्रिपुरी की मूलगद्दी ने अपना विस्तार उत्तर में नैपाल, पूर्व में बंगाल, पश्चिम में गुजरात और दक्षिण में करणाटक-निकटस्थ कुंतल देश तक कर दिखाया। मुग्धतुंग ने कोशल के राजा से लड़ाई ली थी और उससे पूर्व समुद्र की ओर की प्रधान पुरी पाली छीन ली थी। (विजित्य पूर्वाम्बुधिकूलपालीः पालीस्समादाय च कोसलेंद्रात् । निरन्तरोद्भासितवैरिधामा धामाधिकः खड्गपतिर्य आसीत् ।)

मुग्धतुंग के दो लड़के थे—बालहर्ष और केयूरवर्ष युवराजदेव। ये दोनों भाई एक के पीछे एक गद्दी पर बैठे। युवराजदेव ने चालुक्य राजा अवनिवर्मन् की कन्या नोहलादेवी से विवाह किया। इस राजा ने गोलकी मठ नामक शैव मठ के महंत सद्भाव शंभु को अपने डाहल देश से ३ लाख गाँवों की जागीर दी थी। उस समय यमुना और नर्मदा के मध्यस्थ डाहल देश में ६ लाख ग्राम थे। गोलकी मठ का अर्थ गोमठ ही होता है। डाहल देश में भेड़ाघाट के सिवाय दूसरा कोई स्थान नहीं दिखता

गोलकी मठ

जहाँ पर इतना बड़ा मठ रहा हो। ऐसे मठ की स्थापना भी राजधानी के निकट ही सोची गई होगी। भेड़ाघाट त्रिपुरी से ६ मील नर्मदा के किनारे पर है, जहाँ पर चौंसठ योगिनियों का प्राचीन मंदिर अभी तक विद्यमान है। गोलकी मठ के आचार्य पाशुपतपंथी शैव थे, जिसके मत से योगिनियों का विशेष संबंध है। इसलिये यह बात सिद्ध सी जान पड़ती है कि गोलकी मठ भेड़ाघाट ही का चौंसठ योगिनियों का मंदिर है। भारतवर्ष में इस प्रकार के मठ पाँच-सात से अधिक नहीं हैं, उनमें से बहुतेरे मध्य प्रदेश के अंतर्गत या उसके आसपास ही पाए जाते हैं। बुंदेलखंड में खजुराहा का चौंसठ योगिनी का मंदिर प्रसिद्ध था। वह अब बिल्कुल टूट फूट गया है और योगिनियों की मूर्तियाँ भी उठ गई हैं। खजुराहो में किंवदंती है कि वहाँ की योगिनियाँ अप्रसन्न होकर नर्मदा-किनारे भेड़ाघाट को चली गईं। इसका कुछ अर्थ हो सकता है तो यही कि खजुराहा का मंदिर प्राचीन था। उसके पश्चात् भेड़ाघाट में उससे बढ़कर मठ बनाया गया, जिससे खजुराहो के मंदिर की कीर्ति लुप्त हो गई। परंतु खजुराहो-निवासी, जिनका स्थान अनुपम मंदिरों से परिपूर्ण था, यह सहन नहीं कर सके कि भेड़ाघाट का मंदिर उनके योगिनी-मंदिर से बढ़िया कहा जाय। इस-लिये उन्होंने भेड़ाघाटवालों को चोरी लगा दी, परंतु 'ऊँट की चोरी छिपे छिपे' नहीं होती। उनको यह समझाना कठिन हो गया कि इतनी वजनदार चीजें सैकड़ों मीलों पर कैसे पहुँची होंगी। तब कह दिया कि मूर्तियाँ ही हमसे अप्रसन्न होकर चल दीं और नर्मदा के किनारे उन्होंने अपना निवास स्थिर कर लिया। इसमें कलचुरियों की कुछ करतूत नहीं। खजुराहा चंदेलों की राजधानी थी। कलचुरियों और चंदेलों के बीच हिरस थी, इसलिये वे एक दूसरे से जलते थे। भेड़ाघाट के मठ में एक विशेषता यह है कि वह बिल्कुल गोलाकार बना है; खजुराहो और अन्यत्र के मठ चतुष्कोण हैं। कदाचित् गोलाकार होने के कारण से ही नर्मदा-तटस्थ मठ का नाम गोलकी मठ रख लिया गया हो।

केयूरवर्ष युवराजदेव का समय ९२५ ईसवी के लगभग पड़ता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का लक्ष्मणराज ९५० ईसवी के लगभग सिंहासन पर बैठा। उसने पश्चिम में समुद्र-पर्यंत धावा किया और लाट अर्थात् गुजरात के राजा को हरा दिया, फिर समुद्र में स्नान कर सोमनाथ के महादेव की पूजा की। कन्नौज में गुर्जर राजा के स्थान में उसने अपने एक लड़के को गद्दी पर बिठा दिया जो कोशलाधीश कहलाने लगा। उसने बंगाल के पाल राजाओं को भी पराजित किया और कश्मीर के वीरों से कुन्नस करवाई। उसने अपनी लड़की बोंठादेवी दक्षिण के चालुक्यों को दी थी जिनका लड़का महाप्रतापी तैलप हुआ। उसने अपने वंश के गिरे हुए राज्य का पुनरुत्थान किया। लक्ष्मणराज के दो लड़के थे, शंकरगण और युवराजदेव (द्वितीय)। ये एक के पीछे एक गद्दी पर बैठे। इनसे कुछ नहीं बन पड़ा, विजय करने के बदले उलटे हार खा बैठे। द्वितीय युवराजदेव के समय में मालवा के राजा वाक्पति मुंज ने त्रिपुरी पर चढ़ाई की और उसे हरा दिया। इसी मुंज ने युवराजदेव के भानजे तैलप को १६ बार हराया, परंतु सत्रहवीं बार तैलप ने उसका सिर काट लिया। तैलप बड़ा लड़ाका था। उसने अपने मामा युवराजदेव पर भी चढ़ाई की और उसे हरा दिया। द्वितीय युवराज देव का पुत्र द्वितीय कोकल्ल हुआ। वह सन् १००० ईसवी के लगभग सिंहासन पर बैठा, परंतु उसने भी कुछ पराक्रम नहीं दिखलाया। हाँ, इतना अवश्य किया कि उसने ऐसे सुपूत को जन्म दिया जिसने चेदि के राज्य को शिखर पर पहुँचा दिया।

चढ़ाव उतार

प्रथम सुपुत्र गांगेयदेव था जिसने १०१९ ईसवी के भीतर भीतर नैपाल और तिरहुत तक अपना आतंक बैठा दिया। उसने दक्षिण में करणाटक-निकटस्थ कुंतल देश पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को हरा दिया। वह बेचारा सुध-बुध-हीन बिखरे केश भागा जाता था, परंतु गांगेय की राजोचित

गांगेयदेव

दया से 'अकुन्तलः कुन्तलतां बभार'[1] अर्थात् कुंतल-देश-विहीन ने कुंतल-स्वामित्व पुनः धारण किया। क्योंकि गांगेयदेव ने उसका देश लौटा दिया। ऐसे ही विक्रमों के कारण इस राजा का नाम विक्रमादित्य पड़ गया। परंतु यह न समझ लेना चाहिए कि उसकी कभी हार नहीं हुई। ऐसे पराक्रमी पुरुषों के कोई भी कृत्य हों, वे सब उपखान बन जाते हैं। एक बार गांगेयदेव ने तिलंगाने के राजा को साथ लेकर धार के भोज पर चढ़ाई की, परंतु हार गया। तब तो धार के निवासियों के घमंड की सीमा न रही। वे कहने लगे "कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगेय तैलंगण'। अब इस कहावत का अपभ्रंश होकर "कहाँ राजा भोज कहाँ गांगू तेलन" हो गया है। अरब-निवासी संस्कृतज्ञ यात्री अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक में इस राजा की बड़ी प्रशंसा लिखी है। जिस समय वह यहाँ आया था उस समय डाहल देश का राज्य गांगेय के ही हाथ में था। त्रिपुरी के राजाओं के जो सोने-चाँदी के सिक्के मिले हैं वे इसी राजा के हैं, अन्य के अभी तक प्राप्त नहीं हुए। गांगेयदेव अपने राज्यांतर्गत प्रयाग में अक्षयवट के पास बहुधा रहा करता था। अंत में उसने अपनी १०० स्त्रियों के साथ वहीं पर मुक्ति पाई। उसकी मृत्यु सन् १०४१ ईसवी में हुई। त्रिपुरी भारत के ठीक मध्य में है। गांगेयदेव ने अपने अतुलित प्रताप से उसे भारत-साम्राज्य का केंद्र बना दिया। उसके समकालीन चंदेल राजा विजयपाल के एक लेख में "जितविश्वः...गांगेयदेवः" लिखा है, अर्थात् वह गांगेयदेव जिसने विश्व को जीत लिया था।

गांगेयदेव ने कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वंश की बिलकुल जड़ उखाड़ दी थी और वहाँ का शासन अपने युवराज कर्णदेव के अधीन कर दिया था। जब कर्ण सिंहासन पर बैठा तब उसने अपने बाप से भी अधिक ऐसा प्रताप दिखलाया कि कन्याकुमारी-निकटस्थ प्रांत के पांड्य राजा अपनी चंडिमता भूल

कर्णदेव

१—अन्यार्थ केशविहीन ने केशमयत्व धारण किया। (विरोधाभास)

गए, मालाबार के मुरलों का घमंड विलीन हो गया, कोयंबटूर के कुंग सीधी चाल चलने लगे, बंग (बंगाल) और कलिंग (उड़ीसा) के लोग काँप उठे, काँगड़े के कीरों को, सुग्गे की नाईं अपने पिंजरे के भीतर से, बाहर आने की हिम्मत न पड़ी और पंजाब के हूणों का प्रहर्ष लुप्त हो गया। उसने चंदेलों पर चढ़ाई कर उन्हें राज्य-च्युत कर दिया। मालवा पर आक्रमण कर भोज से राजभोग छीन लिया और कन्नौज का राज बिलकुल अपने करतल-गत कर लिया। उसने मगध पर दो बार धावा किया, उनमें से एक का वर्णन तिब्बती भाषा की पुस्तकों में भी पाया जाता है। दक्षिण के चोल, पांड्य और केरल देश उसके धावे से नहीं बचे; परंतु वहाँ उसने स्थायी रूप से राज्य नहीं जमाया। ऐसे ही उसने तिलंगाने पर चढ़ाई कर त्रिकलिंगाधिपति का विरुद धारण कर लिया परंतु सोमवंशियों को बिलकुल निकाल नहीं दिया।

'रासमाला' मे लिखा है कि १३६ भूपति कर्ण डहरिया की सेवा करते थे। परंतु "सब दिन होत न एक समान।" जिन जिन को कर्ण ने निकाला था उनके हृदय की दाह कैसे कम हो सकती थी। उन्होंने भीतर ही भीतर उसको नीचा दिखाने का उद्योग किया। चंदेल राजा कीर्तिवर्मन् ने सेना इकट्ठी कर अंत में लड़ाई ठानी और 'विश्व-विजयी' कर्ण को हरा दिया। उस जीत के उपलक्ष्य में 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक रचवाया गया जिसमें कर्ण की हार और चंदेल सेनापति गोपाल द्वारा कीर्त्तिवर्मन् की राज्य-प्राप्ति दिखलाई गई। इसी प्रकार मालवा के राजा उदयादित्य ने भी लड़ाई करके अपना राज्य-बंधन मुक्त कर लिया। कदाचित् इन्हीं बातों से निराश हो कर्ण ने अपनी गद्दी खाली कर दी हो, क्योंकि उसने अपने जीते जी अपने पुत्र यशःकर्णदेव का महाभिषेक करवा के उसे सिंहासन पर बिठा दिया। कर्ण स्वयं सिंहासन पर प्रायः पच्चीस वर्ष रहा परंतु उसने अपने साम्राज्य की वह उन्नति कर दिखाई जैसी उसके वंश में आगे पीछे किसी ने कभी न कर पाई। इसके एक पूर्वज की उपाधि चेदिचंद्र थी। तब तो कर्ण को चेदि-पूर्णचंद्र कहना चाहिए। परंतु इसी वीर के साथ कलचुरि-शुक्लपक्ष

समाप्त हुआ और उसकी मृत्यु के पश्चात् कृष्णपक्ष का आरंभ हुआ। कर्ण ने त्रिपुरी से लगी हुई कर्णवती नगरी बसाई, जिसकी शोभा अकथनीय थी। परंतु अब वह स्थान बेल का जंगल हो गया है जिससे उसका नाम भी करनबेल पड़ गया है। काशी में उसने एक विशाल मंदिर बनवाया था जो कर्णमेरु कहलाता था। अब उसका पता नहीं।

कर्ण ने आवल्लादेवी नामक हूण-कुमारी से विवाह किया था। उसी से यशःकर्णदेव उत्पन्न हुआ था। बाप ने इसको छोटी ही अवस्था में गद्दी पर बिठा दिया, इसलिये इसका राज्यकाल लंबा हो गया। गद्दी पर आते ही इसने तिलंगाने के राजा को, जो फिर प्रबल हो गया था, बड़ी वीरता से पछाड़ और उसका धन लूटकर उसी के प्रसिद्ध भीमेश्वर महादेव को चढ़ा दिया। यह मंदिर गोदावरी के उत्तर में १४ मील द्राक्षारामम गाँव में है। इस बात का जिक्र यश·कर्ण के सन् १०७१ ई० के ताम्रशासन में है, जिससे स्पष्ट जान पड़ता है कि यशःकर्ण ने अल्प वय ही में इसका संपादन किया था। उत्तर में उसने बिहार के चंपारण्य को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया था। ऊपर वर्णन कर आए हैं कि कलचुरियों के प्राय. सभी पड़ोसी उनके वैरी हो गए थे। जब उनका दाँव आया तो वे क्योंकर चूकनेवाले थे। सन् १०८३ ई० के पूर्व ही परमार राजा लक्ष्मणदेव ने त्रिपुरी ही पर चढ़ाई कर दी। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि उसने रेवा (नर्मदा) के किनारे मोरचा जमाया और कलचुरियों के योद्धाओं का विनाश कर दिया। लक्ष्मणदेव दक्षिण को बढ़ता गया, परंतु बस्तर में चोल राजा प्रथम कुलोत्तुंग से मुठभेड़ हो गई। लक्ष्मण हार गया और अपना सा मुँह लेकर लौट आया। त्रिपुरी का ह्रास देखकर तुम्माण घराने के निज बांधव भी, जो अभी तक मूल गद्दी का मान करते आते थे, स्वतंत्र हो गए। इसी जमाने में कन्नौज का राज्य भी निकल गया। इस प्रकार त्रिपुरी का बल संकुचित हो चला।

यशःकर्णदेव

यशःकर्णदेव के पश्चात् उसका लड़का गयाकर्णदेव राजा हुआ। उसके गद्दी पर बैठने की तिथि तो ज्ञात नहीं है; परंतु ताम्र-लेखों से स्पष्ट

है कि वह सन् ११५० ईसवी में अवश्य राज्य करता था। उसका देहांत सन् ११५५ के पूर्व हो गया, क्योंकि उस सन् का ताम्रशासन उसकी विधवा रानी-द्वारा दिया गया पाया जाता है। जान पड़ता है, गयाकर्ण के समय में चेदि-राज का बहुत सा भाग हाथ से निकल गया। गयाकर्ण ने मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा विजयसिंह की लड़की से विवाह किया था। उसके दो पुत्र नरसिंहदेव और जयसिंहदेव हुए, जो एक के पश्चात् एक गद्दी पर बैठे। नरसिंहदेव के राज्यकाल के शिलालेख ११५५ ई० से ११५९ तक के मिले हैं और जयसिंह के ११७५ व ११७७ के मिले हैं। जय-सिंह का पुत्र विजयसिंह सन् ११८० के लगभग उत्तराधिकारी हुआ। हाल ही में रीवाँ में एक लेख मिला है, जिसकी तिथि सन् ११९२ ई० में पड़ती है। तब विजयसिंह ही का राज्य था। ऐसे ही सन् ११९५ ई० के एक और लेख में उसका ज़िक्र आता है, और उसमें उसका विरुद परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर त्रिकलिं-गाधिपति दर्ज है। विजयसिंह का लड़का अजयसिंह हुआ, परंतु उसके राजत्व-काल का कोई लेख अभी तक नहीं मिला। विजयसिंह के समय तक टोंस नदी के दक्षिण का भाग कलचुरियों के अधीन था। परंतु रीवाँ के सन् १२४० ई० के चंदेल ताम्रशासन से जान पड़ता है कि वह भाग उस संवत् के पूर्व चंदेलों के अधिकार में चला गया था। कब और कैसे गया, यह अभी तक तिमिरावृत है। इस प्रकार त्रिपुरी के कलचुरि-कृष्णपक्ष की अमावस्या पूर्ण अंधकार-युक्त समाप्त हो गई। तिस पर भी मध्य प्रदेश के एक कोने में कलचुरिवंश का अंश बना ही रहा। बता चुके हैं कि तुम्माण के मांडलिक त्रिपुरी-परिवार ही के थे। ये कालांतर में स्वतंत्र हो गए थे। इनका सिलसिला उन्नीसवीं सदी तक चला, इसलिये इनका अलग वर्णन किया जायगा। इसके पूर्व हम त्रिपुरी के प्रभावशाली नरेशों की शासन-पद्धति और धर्म का कुछ दिग्दर्शन यहाँ पर करा देना चाहते हैं।

त्रिपुरी के अंतिम राजा

कलचुरियों के समय में शासन-प्रणाली उच्च श्रेणी की थी। यद्यपि उनके राज्य का अब इतना विस्मरण हो गया है कि स्थानीय लोग उनका नाम तक नहीं जानते, तथापि वे जो अनेक शिला व ताम्र लेख छोड़ गए हैं उनसे उनकी शासन-पद्धति का कुछ कुछ पता लगता है। यथा, यशःकर्ण के एक दान-पत्र में निम्नलिखित उल्लेख है—

कलचुरिशासन-पद्धति

स च परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीवामदेवपादानुध्यात परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर त्रिकलिंगाधिपति निजभुजोपार्जिताश्वगजपतिनरपतिराजत्रयाधिपति श्रीमद्यशःकर्णदेवः। श्री महादेवी, महाराजपुत्रः, महामन्त्री, महामात्यः, महासामन्तः, महापुरोहितः, महाप्रतीहारः महाक्षपटलिकः, महाप्रमात्रः, महाश्वसाधनिकः, महाभाण्डागारिकः, महाध्यक्षः, एतानन्यांश्च प्रदास्यमानग्रामनिवासिजनपदाश्चाहूय यथार्ह सम्मानयति बोधयति समाज्ञापयति विदितमेतदस्तु भवतां यथा संवत् ८२३ फाल्गुनमासि शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां रवौ संक्रान्तौ वासुदेवोद्देशे देवग्रामपत्तलायां देउलापंचेलग्रामःससीमापर्यन्तः चतुराघाटविशुद्धः सजलस्थलः साम्रमधूकः सगर्त्तोषरः सनिर्गमप्रवेशः सलवणाकरः सगोप्रचारः सजाङ्गलानूपः वृक्षारामोद्भेदोद्यानतृणादिसहितः कान्वसगोत्राय आप्लवन जामदग्नि त्रिप्रवराय बह्वृचशाखिने सोआपौत्राय छीतपईपुत्राय गङ्गाधरशर्मणे ब्राह्मणाय मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोभिवृद्धये ग्रामोयमस्माभिः शासनत्वेन सम्प्रदत्तः।

इससे स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्राचीन काल में दान मुख्य मुख्य राज्याधिकारियों के सामने दिया जाता था, ताकि वह भूल या भ्रांति से फिर कभी छीना न जाय। ऊपर उद्धृत लेख से प्रकट है कि दान देते समय राजा, रानी और युवराज के अतिरिक्त राजसभा के मुख्य दस अधिकारी, तथा जो गाँव दिया गया उसके निवासी, उपस्थित थे। अधिकारियों के नामों से ही ज्ञात होता है कि निदान राजशासन के नव या दस विभाग (महकमे) थे, जिनके अलग अलग अध्यक्ष थे। महाराजपुत्र के पश्चात् महामंत्री का नाम आता है, जो अवश्य अन्य सब विभागों

का स्वामी रहा करता था, जैसा कि अब भी होता है। उसके बाद महामात्य का दर्जा रहता था, जिसको राजा की कौंसिल का मुखिया समझना चाहिए। इसी प्रकार सेना का स्वामी महासामंत, धर्म का महापुरोहित, राजमहल का महाप्रतीहार, लेख-विभाग का महाक्षपटलिक, व्यवहार-पद्धति का महाप्रमात्र, घोड़ों और सवारों का महाश्व-साधनिक, खजाने का महाभांडागारिक और अन्य विभागों का देख-रेख करनेवाला महाध्यक्ष रहता था। किस विभाग में कौन कौन सी बातें सम्मिलित थीं इसका ब्यौरा तो प्राप्य नहीं है परंतु दान की शर्तों ही से प्रकट होता है कि कितनी बारीकी के साथ कार्रवाई हुआ करती थी। ऊपर वर्णित दानपत्र की शर्तों से पता लगता है कि गाँवों के चारों ओर सीमा बनी रहती थी। किसी किसी लेख से जान पड़ता है कि जहाँ स्वाभाविक सीमा नहीं रहती थी वहाँ खाई खोदकर बना ली जाती थी। इतनी बारीकी इस शिक्षित काल में भी नहीं की जाती। जल, स्थल, आम, महुआ, गड्ढे, खान, नमकवाली भूमि, गोचर, जंगल, कछार, बाग-बगीचे, लता, घास, बीड़ां (घास के मैदान) इत्यादि का ही लेख नहीं है, वरन् गाँव में आने जाने के रास्तों का अधिकार भी लिख दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि माल और स्वत्व का सूक्ष्म रीति से विचार किया जाता था। हर एक विभाग में अलग अलग लेखक (मुहर्रिर) रहते थे, जैसे धर्मविभाग का लेखक धर्मलेखी कहलाता था। कार्रवाई शीघ्रता के साथ होती थी, क्योंकि कई दानपत्रों से पता लगता है कि संकल्प करने के थोड़े ही दिन पश्चात् ताम्रशासन दे दिए जाते थे। अब जितनी देर कागज पर नकल करके देने में लगती है उतनी कदाचित् ताम्रपत्रों पर शासन खुदाकर देने में न लगती थी।

कलचुरि-धर्म

कलचुरि शैव थे और धर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। पीछे वर्णन कर आए हैं कि उन्होंने ३ लाख ग्रामों की जागीर एक मठ को दे दी थी। उनकी धर्मशालाओं में ब्राह्मण और चांडाल सभी को समदृष्टि से दान दिया जाता था। उनके विचार उच्च कोटि के थे।

पाषाणश्शिवसंस्कारात् भुक्तिमुक्तिप्रदो भवेत् ।
पाषाणश्शिवतां याति शूद्रस्तु न कथं भवेत् ॥
[संस्कार तें पत्थरहु, भुक्ति-मुक्ति-प्रद होय ।
पत्थर जो शिव होय तो, शूद्र क्यों न शिव होय ॥]

मठों के अधिकारी पाशुपत-संप्रदाय के शैव रहते थे। यह संप्रदाय दक्षिण के द्राविड़ ब्राह्मणों में बहुत प्रचलित था। वहाँ भी अनेक मठ स्थापित किए गए थे, जो गोलकी मठ से संबंध रखते थे। इस पंथ के प्रचारक दुर्वासा मुनि समझे जाते हैं। गोलकी मठ के प्रथम महंत सद्भावशंभु हुए थे। वे कालामुख शाखा को पालते थे। कालामुख शैव निम्नलिखित छः मुक्तिमार्ग मानते हैं—(१) खोपड़े में भोजन करना, (२) शरीर में शव की राख लेपन करना, (३) राख खाना, (४) दंड धरना, (५) मदिरा का प्याला पास रखना और (६) योनिस्थित देव का पूजन करना।

कलचुरियों ने इन्हीं आचार्य[1] को ३ लाख गाँव अर्पण किए थे। यद्यपि गाँव व्यक्तिगत अतिसृष्ट किए गए थे, तथापि सद्भावशंभु ने इस भारी जायदाद को अपने पास नहीं रखा; सब मठ को सौंप दी। इसी मठ के एक महंत सोमशंभु हुए, जिन्होंने 'सोमशंभुपद्धति' नाम का ग्रंथ लिखा। उनके पश्चात् वामशंभु हुए। उनके सहस्रों चेले थे, जिनके आशीर्वाद के लिये नृपतिगण भी बड़ी अभिलाषा रखते थे। महंत की गद्दी के लिये बड़े योग्य पुरुष चुने जाते थे। एक महंत विमलशिव मद्रास के अंतर्गत केरल देश में पैदा हुए थे। उनके शिष्य धर्मशिव हुए। उनके शिष्य विश्वेश्वर शंभु बड़े ओजस्वी हुए। ये बंगाल के अंतर्गत राढ़ मे पैदा हुए थे और बड़े नामी वेदज्ञ थे। इन्होंने निजाम-राज्य के अंतर्गत वारंगल देश के काकतीय राजा गणपति को दीक्षा दी थी और चोल, मालवीय तथा कलचुरि राजाओं को भी शिष्य बना लिया था। गण-

१—तस्मै निस्पृहचेतसे कलचुरिक्ष्मापालचूडामणिः,
ग्रामाणां युवराजदेवनृपतिः भिक्षां त्रिलक्षं ददौ ॥

पति राजा तो इनको पिता कहते थे और इनके आदेशानुसार गौड़ अर्थात् बंगाल के अनेक शैव साधुओं और अनगिनती कवियों को पुरस्कार दिया करते थे।

विश्वेश्वरशंभु स्वयं उदारचरित्र थे। उन्होंने सब जातियों के लोगों को सदावर्त मिलने का ही प्रबंध नहीं किया था, वरन् अस्पताल, धात्रीगृह और महाविद्यालय भी स्थापित किए थे। संगीत और नृत्यकला को भी वे उत्तेजन देते थे। यहाँ तक कि बहुत से गवैए काश्मीर से बुलाकर रखे थे। ग्राम-प्रबंध के लिये वीरभद्र और वीरमुष्टि इत्यादि नियुक्त किए थे। निस्संदेह विश्वेश्वरशंभु ने तत्कालीन प्रणाली के अनुसार त्रिलक्षग्रामीय जायदाद का प्रबंध किया होगा। विश्वेश्वरशंभु सन् १२५० ई० के लगभग विद्यमान थे। वह कलचुरियों की अवनति का समय था। यही कारण है कि विश्वेश्वर स्वामी काकतीयों के यहाँ जाकर रहे।

यद्यपि कलचुरि कट्टर शैव थे, तथापि उन्होंने दूसरों के धर्म में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। तेवर के निकट गोपालपुर नामक ग्राम में अवलोकितेश्वर और तारा की मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें बौद्धधर्म का बीजमंत्र खुदा हुआ है। यदि कलचुरि उदारचित्त के न होते तो बौद्धों का, जिनको शैवों ने ही भारत से निकाला था, ठहरना कठिन हो जाता।

कलचुरियों के शिल्प का कुछ वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। उन्होंने अनेक विशाल मंदिर, धर्मशालाएँ, अध्ययनशालाएँ, मठ इत्यादि अपने राज्य के अनेक स्थानों में स्वयं या प्रजावर्ग द्वारा बनवाए थे, जिनकी कारीगरी एक प्रकार की विशेष छटा दिखलाती है। पुरातत्त्व-विभाग के एक मर्मज्ञ ने उसका नाम ही कलचुरि-शिल्प रख दिया है। कलचुरि-मंदिर आदि के दरवाजों पर बहुधा गजलक्ष्मी या शिव की मूर्त्ति पाई जाती है। गजलक्ष्मी उस वंश की कुलदेवी थी और कुल उनका शिव-उपासक था। इसी कारण प्रत्येक राजा अपने विरुद में 'परममाहेश्वर' शब्द का उपयोग करता था। इस वंश के ताम्र-शासन सदैव 'ओं नमः शिवाय' से प्रारंभ होते हैं। कलचुरि साहित्य-प्रेमी भी बड़े थे।

शिल्प और साहित्य

कई विद्वानों का मत है कि इन्हीं की राजसभा में धुरंधर कवि राजशेखर रहते थे। कलचुरियों की बिलहरी की प्रशस्ति में राजशेखर के विषय में यों उल्लेख किया गया है—

"सुश्लिष्टबंधघटनाविस्मितकविराजशेखरस्तुत्या।
आस्तामियमाकल्पं कृतिश्च कीर्तिश्च पूर्वा च॥"

अर्थात्, इस प्रशस्ति की रचना को देखकर कवि राजशेखर विस्मित हो गए थे और उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि राजशेखर कोई बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। शोध से पता लगा है कि राजशेखर ने कविकुल में जन्म लिया था और अपना विवाह-संबंध भी एक ऐसी स्त्री से किया था जो कवि थी। इनकी स्त्री चौहा-निन थी और काव्य-रहस्य अच्छी तरह जानती थी। स्वयं राजशेखर ने अपने अप्रतिम 'काव्यमीमांसा' ग्रंथ में कम से कम तीन बार अवंति-सुंदरी के मत का हवाला दिया है। अपने 'कर्पूरमंजरी' नाटक में उन्होंने अपनी पत्नी का परिचय यों दिया है—

"चाहुआणकुलमौलिमालिमा राअसेहरइन्दगेहिणी।
भत्तुणो किहमवन्तिसुन्दरी सा पउज्जइऽमेजमिच्छइ॥"

राजशेखर अपने पुरखों को महाराष्ट्र-कुल-चूड़ामणि लिखते हैं। उनके विवाह-संबंध से स्पष्ट है कि वे क्षत्रिय थे। बिलहरी के प्रशस्ति-लेखक कुछ कम दर्जे के कवि नहीं थे; परंतु जब राजशेखर ने उनके प्रबंध का अनुमोदन कर दिया, तब तो वे फूले नहीं समाए और उन्होंने अपने लेख में इस बात का समावेश कर दिया। इस प्रदेश में स्वयं राजशेखर-कृत कोई प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हुई; परंतु उनके चेलों ही की कृति हम लोगों के विनोद के लिये बस है। हजार वर्ष पुरानी कविता का एक नमूना लीजिए—

वाचामुज्ज्वलमापि नास्ति यदि मे तत्कीर्त्यमानोन्नते-
रस्मादेव महीयसः शशभृतो वंशात्स सम्पत्स्यते।
यद्वा पश्य निसर्गकालिमभुवोप्याशेभदानच्छटाः
क्षीरोदन्वति किन्न संगतिभृतस्तच्छायतां बिभ्रति॥

अर्थात् "यद्यपि मेरे उज्ज्वल वाणी नहीं है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उसकी चमक इस चंद्रवंश से आ जायगी, जिसकी मैं प्रशस्ति लिखता हूँ। क्या नैसर्गिक कालिमा की जगह भी दिग्गजों के मद की धाराओं से मिलते ही समुद्र की फेन के समान चमकने नहीं लगती है ?" यह प्रशस्ति रानी नोहलादेवी ने अपने बनवाए हुए शिवमंदिर में लगवाई थी। एक दूसरी रानी अल्हणादेवी ने सन् ११५५ ईसवी में भेड़ाघाट में दान किया था और एक प्रशस्ति लिखवाई थी। इसके रचयिता थे पं० शशिधर। आप काव्य में अद्भुत निपुण और तर्कशास्त्र के विशेष विद्वान् थे। आपने अपने संबंधियों का भी कुछ जिक्र कर दिया है—आपके भाई का नाम पृथ्वीधर था, जो समस्त गंभीर शास्त्रार्णवपारगामी थे। इनकी कौन कहे, इनके शिष्यगणों ने दिग्विजय कर डाला था। आपके पिता का नाम धरणीधर था, जिन्होंने अपने नाम, गरिमा, यश और श्री से 'धरणीधर' शब्द को सार्थक कर दिया था। आप कोमल कांति-स्नेह के भार से भरे हुए दीर्घ मनोज्ञ दशा से पूर्ण मानो त्रिभुवन के दीपक थे। प्रेमपूर्ण कवि-द्वारा अपने पिता की यह प्रशंसा क्षंतव्य है। शशिधर जबलपुरी पंडित मालूम होते हैं। तब तो ये अवश्य त्रिपुरी अर्थात् तेवर में रहते रहे होंगे; नहीं तो ये अपने पुरखों का मूल स्थान बिना बताए न रहते।

शशिधर की कविता शशि-सी सुहावनी और गूढ़ थी। आप तार्किक थे ही, इसलिये आपकी कविता का अनेक तर्कनाओं से भरी हुई होना कोई अचरज की बात नहीं। शशिधरजी ने भेड़ाघाट-प्रशस्ति में, आरंभ मे, शशिशेखर की वंदना श्लोकों में की है। पहले श्लोक में शशिधर रूप में महादेवजी का आशीर्वाद दिलाया गया है, दूसरे में गंगाधर रूप से, तीसरे मे अष्टांग से और चौथे में नीलकंठ रूप से। नमूने के लिये हम यहाँ पर दूसरा और चौथा श्लोक उद्धृत करते हैं।

दूसरा श्लोक यों है—

किं माला: कुमुदस्य किं शशिकला किं धर्म्म्यैकर्मांकुरा:
किंवा कंचुकिकंचुका: किमथवा भूत्युद्गमा मान्त्यमी।

इ (?) न्माकि वितर्क्किताः शिवशिरःसंचारिनाकापगा
रिङ्गद्वल्गुतरङ्गभङ्गिततयः पुण्यप्रभाः पान्तु वः ॥

वे पुण्य के फुहारे, वे शिव के सिर में आकाश-गंगा की टेढ़ी-मेढ़ी बहती व कूदती तरंगें तुम्हारी रक्षा करें जिनको देखकर स्वर्ग के देव-गंधर्व मन में तर्कना करते हैं कि ये कमल की मालाएँ तो नहीं हैं अथवा ये चंद्र की कलाएँ, पुण्य कर्म के अंकुर, सांप की केंचुल या ईश्वरीय प्रभा का आविर्भाव हैं।

चौथा श्लोक अनुष्टुप् है—

शक्तिहेतिपरप्रीतिहेतुश्चंद्रकचर्चितः ।
ताण्डवाडम्बरः कुर्य्यान्नीलकण्ठः प्रियाणि (?) ॥

वह नीलकंठ, जो बरछी-भालाधारियों को आनंद से भर देता है और बालचंद्र से चर्चित हो तांडव-नृत्य में मग्न रहता है, तुमको जो प्रिय होवे सो देवे।

यह श्लोक श्लेषात्मक है और नाचते हुए मोर को भी लग सकता है। मोर भी नीलकंठ कहलाता है, वह शशिधर अर्थात् कार्त्तिकेय के आनंद का हेतु है और उसकी पूँछ चंद्रक-चर्चित रहती है अर्थात् उसमें चंद्रमा के समान काले चिह्न रहते हैं।

बस, इतने ही नमूनों से प्रकट हो जायगा कि कलचुरि-काल के विद्वान् किस श्रेणी के थे। कलचुरिये विद्वानों के आश्रयदाता थे और यथोचित उत्तेजना देकर उनका उत्साह बढ़ाया करते थे। गोलकी मठ की व्यवस्था ही से ज्ञात हो जायगा कि उस समय सभ्य समाज का ध्यान किन किन बातों पर विशेष रूप से था।

अष्टम अध्याय

रत्नपुर के हैहय

पीछे कह आए हैं कि त्रिपुरी की एक शाखा छत्तीसगढ़ में जा बसी। बिलासपुर जिले में प्रायः गोलाकार एक पर्वतश्रेणी है जिसके

भीतर लगभग तीस गाँव बसे हैं। मुख्य ग्राम तुमान है जिसके कारण पर्वत से घिरे हुए समूचे स्थल का नाम तुमान-खोल रख लिया गया है। शिलालेखों में इस ग्राम या पुर का नाम तुम्माण लिखा हुआ पाया जाता है। त्रिपुरी के एक मंडलेश्वर ने जब से इसे अपना निवासस्थान बनाया तभी से इसकी ख्याति हुई। यह मंडलेश्वर त्रिपुरी के राजा कोकल्लदेव के १८ पुत्रों में से था। इस कोकल्ल का समय ८७५ ई० स्थिर किया गया है। कोई सवा सौ वर्ष तक कोकल्ल के बनाए हुए मंडलेश्वर का वंश तुम्माण में चलता रहा। उसके पश्चात् जान पड़ता है कि वह निर्मूल हो गया और किसी दूसरे ने उस पर अधिकार कर लिया। तब त्रिपुरी के राजा का एक और लड़का कलिंगराज नामक भेजा गया जिसने केवल उस मंडल ही की ठीक व्यवस्था नहीं की, वरन 'दक्षिणकोशलो जनपदो बाहुद्वयेन अर्ज्जितः' अपने बाहुबल से दक्षिण कोशल का जनपद जीत लिया। "राजधानी स तुम्माणः पूर्वजैः कृत इत्यतः। तत्रस्थोऽरिक्षयं कुर्व्वन् वर्धयामास स श्रियम्।" तुम्माण में जाकर उसने अपने शत्रुओं का क्षय करके अपने पूर्वजों की राजधानी को अपना निवासस्थान बनाया और उसके वैभव की वृद्धि की। 'तत्रस्थ अरि' कौन थे, इसका उल्लेख किसी भी शिलालेख में नहीं पाया जाता। संभव है कि ये कवर जाति के स्थानीय जमींदार रहे हों जिन्होंने मौका पाकर अपना सिलसिला जमा लिया हो। दंतकथा के अनुसार इस ओर के जंगलों मे घुरघुस नामक कोई सरदार रहता था जिसने राजपूतों से दस वर्ष तक लड़ाई ली। कदाचित् यही या उसका कोई पूर्वज रहा हो जिसने तुम्माण पर अपना अधिकार जमाया हो और जिसको कलिंगराज ने निकाल बाहर किया हो। कलिंगराज को 'जनपद' प्राप्त करने की प्रतिष्ठा दी गई है। इससे जान पड़ता है कि उसकी किसी जंगली ही से मुठभेड़ हुई जिसमें वह विजयी हुआ। अगले राजाओं के चरित्रों से जान पड़ेगा कि कलिंगराज ने समस्त दक्षिण कोशल के जनपद को नहीं जीत डाला था, केवल दक्षिण कोशल के एक जनपद का अर्जन किया था और तुमान-

तुम्माण

खोल अब भी "जनपद" है। कलिंगराज प्रथम कोकल्ल की सातवीं पीढ़ी में पैदा हुआ था और तत्कालीन त्रिपुरी के राजा की सेना में, तुम्माण जाने के पहले, अधिकारी था। इससे स्पष्ट है कि वह असाधारण योद्धा रहा होगा। उसको जंगली शत्रुओं को भगाने में कोई विशेष कठिनाई न पड़ी होगी। जब उसने एक बार शत्रुओं को पराजित कर दिया तब वह शांतिपूर्वक अपनी राजधानी की वृद्धि करने लगा। उसके पश्चात् उसका लड़का कमलराज तुम्माण की गद्दी पर बैठा। इसके विषय में कोई विशेषता लिखी हुई नहीं पाई जाती। परंतु इसका पुत्र रत्नराज या रत्नेश हुआ। उसने तुम्माण में अनेक आम्रवन, पुष्पोद्यान आदि लगवाकर और वंकेशादि अनेक देवताओं के मंदिर बनवाकर उसकी विशेष आभा बढ़ाई। परंतु इतने ही से उसे संतोष नहीं हुआ। उसने वहाँ से ४५ मील चलकर एक नवीन राजधानी स्थापित की जिसका नाम उसने रत्नपुर रखा। इस नवीन नगर में तुम्माण से कहीं बढ़कर नानावर्ण-विचित्र रत्नखचित नानादेव-कुलभूषित शिव-मंदिर बनवाए जिसकी प्रशंसा चारों दिशाओं में फैल गई। उसको कुबेरपुर की उपमा दी जाने लगी और उसका महत्त्व इतना बढ़ गया कि वह चतुर्युगी पुरी कहलाने लगी। स्थानीय लोगों का पूरा विश्वास है कि रत्नपुर चारों युगों में विद्यमान था। सत्ययुग में उसका नाम मणिपुर था, त्रेता मे माणिकपुर, द्वापर में हीरापुर और कलियुग में वह रत्नपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत की एक कथा का स्थान भी यहीं बताया जाता है जहाँ राजा मयूरध्वज राज्य करता था। उस राजा की प्रगाढ़ भक्ति की परीक्षा भी इसी स्थान में की गई बताई जाती है। और उसकी पुष्टि में घुड़बँधा और कृष्णार्जुनी (कन्हारजुनी) तालाबों का प्रमाण दिया जाता है। कहते हैं, घुड़बँधा तालाब वह स्थान है जहाँ युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ के लिये छोड़ा हुआ घोड़ा मयूरध्वज के पुत्र द्वारा, उसके रक्षक अर्जुन को हराकर, बाँधा गया था और दूसरे तालाब का नाम कृष्ण और अर्जुन के ब्राह्मण बनकर मयूरध्वज की भक्ति-परीक्षा के लिये उनके रत्नपुर में आगमन का स्मारक बतलाया जाता है। कहते हैं,

रत्नपुर में १,४०० तालाब थे। अब भी प्राय: ३०० विद्यमान हैं। इनमें से कुछ तालाब घोड़ों के नहलाने-धुलाने के काम में आते रहे होंगे। जिस तालाब के पास राजा के घोड़े बाँधे जाते रहे होंगे, उसका घुड़बँधा तालाब नाम पड़ जाना कोई विस्मय की बात नहीं है। इसी प्रकार पौराणिक नाम रखा देने से कोई तालाब, उसके नाम-संबंधी कथा का समसामयिक नहीं हो सकता। अनेक स्थलों में सैकड़ों रामसागर, सीताकुंड, लछमनसागर सौ दो सौ बरस के बने हुए मिलेंगे परंतु वे राम, सीता और लक्ष्मण के उन स्थानों में विचरण करने के स्मारक नहीं समझे जा सकते। किंतु रत्नपुर की इस महिमा से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि महाकोशल में रत्नराज के जमाने में और कदाचित् उसके पश्चात् कई पीढ़ियों तक रत्नपुर की समता का दूसरा शहर नहीं रहा। तिस पर भी रत्नेश ने तुम्माण को तिलांजलि नहीं दे दी। उसने ही नहीं वरन् उसके उत्तराधिकारियों ने पुरखों की राजधानी से अपना संबंध स्थिर रखा और जब उसे छोड़ भी दिया तब भी वे अपने लेखों में तुम्माण को प्रधानता देते ही रहे। तुम्माण का नाम चार शिलालेखों में मिलता है; रत्नपुर का केवल दो लेखों में पाया जाता है। सो भी इनमें से एक में दोनों के नाम लिखे हैं।

रत्नपुर के राजा

रत्नराज ने कोमो के मंडलेश्वर वज्जूक की पुत्री नोनल्ला के साथ विवाह किया। उनका पुत्र पृथ्वीदेव हुआ। उसने एक पृथ्वीदेवेश्वर नामक मंदिर तुम्माण में बनवाया और रत्नपुर में एक तालाब खुदवाया। उसके समय में भी कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई। परंतु जान पड़ता है कि राज्य का विस्तार थोड़ा-बहुत बढ़ता गया। विशेष जलजला पृथ्वीदेव के पुत्र प्रथम जाजल्लदेव के समय में हुआ। उसने आदि-घराना त्रिपुरी से संबंध तो नहीं तोड़ा परंतु वास्तव में वह स्वतंत्र हो गया और कान्यकुब्ज तथा जेजाकभुक्ति... अभौती (बुंदेलखंड) के राजाओं से मित्रता कर उसने अपना मान बढ़ा लिया (कान्यकुब्जमहीपेन जेजाभुक्तिकभूभुजा। शूर इति प्रता-

पित्वादर्हितो मित्रवत्श्रिया)। उस समय ये दोनों राजा बड़े प्रतापी थे। उनसे मित्रभाव का व्यवहार रखना कुछ ऐसी-वैसी बात नहीं थी। अपनी राजधानी के दक्षिण की ओर का प्रायः समस्त इलाका, जो महाकोशल के भीतर पड़ता था और जो उसके परे भी था उसको भी उसने जीतकर अपने अधीन कर लिया और पश्चिम की ओर बालाघाट और चाँदा तक अपना दौर-दौरा जमा लिया। इस प्रकार वह गंजाम जिले की आंध्र खिमिड़ी, चाँदा जिले के बैरागढ़, बालाघाट की लाँजी और भंडारा, तलहारी, दंडकपुर, नंदावली, कुक्कुट इत्यादि के मंडलेश्वरों से कर लेने लगा। जाजल्लदेव ने महाकोशल के अनेक भागों को जगपालदेव की सहायता से अपने अधीन कर लिया। यह जगपाल, मिरजापुर के दक्षिण में, बड़हर का रहनेवाला था और जाति का राजमाल था। उसके पूर्वजों ने भट्टविल (बघेलखंड का भाग), डाँडोर (सरगुजा) और कोमोमंडल (पेंडरा जमींदारी) को सर कर लिया था। जगपाल ने राठ, तेरम और तमनाल को, जो रायगढ़ के उत्तर में थे, जीत लिया। उसके डर के मारे मयूरभंज के लोग और साँवता जंगलों में जा छिपे। जगपाल ने दुरुग, सिहावा, कांकेर और बिंद्रानवागढ़ के दक्षिण में कांदाडोंगर तक हैहयों के अधीन कर दिया और बस्तर के राजा को भी हरा दिया। यह वीर एक नहीं, तीन राजाओं के काल में हैहय-राज्य की वृद्धि करता गया, जिससे हैहयों का आतंक चारों ओर बैठ गया और उत्तर-दक्षिण अमरकंटक से गोदावरी तक तथा पश्चिम-पूर्व बरार से उड़ीसा तक उनकी दुहाई फिरने लगी। यह सब कार्य कोई ५० वर्ष के भीतर ही पूरा कर लिया गया।

इस काल में जो तीन राजा हो गए वे थे—प्रथम जाजल्लदेव, उसका पुत्र द्वितीय रत्नदेव और पोता द्वितीय पृथ्वीदेव। द्वितीय रत्नदेव कलिंगदेश के राजा चोड गंग को पराजित किया। इस प्रकार उसने 'त्रिकलिंगाधिपति' कहलाने की नींव तो जमा ली, परंतु मूल घराना त्रिपुरी के विरुद को नहीं अपनाया। यह पदवी उस घराने में सन् ११७७ ईसवी तक स्थिर रही आई, यद्यपि मूल गद्दी उस समय इतनी

हीन हो गई थी कि त्रिकलिंग की कौन कहे त्रिपुरी ही की रक्षा करने की सामर्थ्य उसमें न रह गई थी।

राज्य बढ़ा देने से उसके प्रबंध का भार विजेताओं के उत्तराधिकारियों पर पड़ा। उन्होंने प्रचलित प्रथा में बहुत हेर-फेर नहीं किया। परंतु "समूहानां तु यो धर्मस्तेन धर्मेण ते सदा। प्रकुर्युः सर्वकार्याणि स्वधर्मेषु व्यवस्थिताः॥" इसलिये वे कई पीढ़ियों तक लड़ाई के धूम-धड़क्के से बचे रहे और शांति के साथ भीतरी प्रबंध करते रहे। द्वितीय पृथ्वीदेव का पुत्र द्वितीय जाजल्लदेव, उसका तृतीय रत्नदेव और उसका तृतीय पृथ्वीदेव हुआ। इन सबों के समय के शिलालेख मिले हैं जिनमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती। तृतीय पृथ्वीदेव का समय बारहवीं शताब्दी के अंत में पड़ता है, पश्चात् कोई ऐसे प्रामाणिक लेख अवगत नहीं हुए जिनमें पिछले राजाओं का ठीक पता लग जाय, केवल राजाओं की निम्नलिखित नामावली पाई जाती है।

भानुसिंह	शासनकाल लगभग		१२०० ईसवी
नरसिंहदेव	,,	,,	१२२१ ,,
भूसिंहदेव	,,	,,	१२५१ ,,
प्रतापसिंहदेव	,,	,,	१२७६ ,,
जयसिंहदेव	,,	,,	१३१९ ,,
धर्मसिंहदेव	,,	,,	१३४७ ,,
जगन्नाथसिंहदेव	,,	,,	१३६९ ,,
वीरसिंहदेव	,,	,,	१४०७ ,,
कमलदेव	,,	,,	१४२६ ,,
शंकरसहाय	,,	,,	१४३६ ,,
मोहनसहाय	,,	,,	१४५४ ,,
दादूसहाय	,,	,,	१४७२ ,,
पुरुषोत्तमसहाय	,,	,,	१४९७ ,,
बाहरसहाय या बाहरेंद्र	,,	,,	१५१९ ,,
कल्याणसहाय	,,	,,	१५४६ ,,

लक्ष्मणसहाय	शासनकाल	लगभग	१५८३ ईसवी
शंकरसहाय	,,	,,	१५६१ ,,
कुमुद या मुकुंदसहाय	,,	,,	१६०६ ,,
त्रिभुवनसहाय	,,	,,	१६१७ ,,
अदितिसहाय	,,	,,	१६४५ ,,
रणजीतसहाय	,,	,,	१६५६ ,,
तखतसिंह	,,	,,	१६८५ ,,
राजसिंहदेव	,,	,,	१६६६ ,,
सरदारसिंह	,,	,,	१७२० ,,
रघुनाथसिंह	,,	,,	१७३२ ,,

जिस प्रकार प्रबंध के लिये त्रिपुरी की एक शाखा तुम्माण मे बैठाई गई थी उसी प्रकार तुम्माण की शाखा प्रौढ़ होने पर उसकी एक डाल खलारी में जमाई गई। रायपुर जिले में खलारी एक प्राचीन गाँव है। वहाँ और अन्यत्र शिला-लेख मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य में रतनपुर के राजा का नातेदार लक्ष्मीदेव प्रतिनिधि-स्वरूप खलारी भेजा गया। उसका लड़का सिंहण हुआ जिसने शत्रु के १८ गढ़ जीत लिए। जान पड़ता है कि सिंहण रतनपुर के राजा से बिगड़कर स्वतंत्र हो गया था। उसने अपनी राजधानी रायपुर में स्थापित की। उसका लड़का रामचंद्र और उसका ब्रह्मदेव हुआ। खलारी और रायपुर के शिलालेख ब्रह्मदेव के समय के हैं। उनकी तिथि १४०२ व १४१४ ईसवी है। परंतु रायपुरी शाखा की जो नामावली पाई जाती है उसमें न ब्रह्मदेव का नाम मिलता है, न उसके पुरखों का और न रतनपुरी-सूची ही में लक्ष्मीदेव का नाम पाया जाता है। तथापि उन दोनों सूचियों में जो पिछली दो-चार पीढ़ियों के नाम हैं वे ऐतिहासिक हैं और मुसलमानी तवारीखों में भी पाए जाते हैं। इसलिये जब तक अधिकतर प्रामाणिक नामावलियाँ प्राप्त न हों तब तक वर्तमान वंशावली का संशोधन नहीं किया जा सकता। रायपुर की वंशावली केशवदेव से आरंभ होती है जिसका

रायपुरी शाखा

समय १४१० ईसवी लिखा पाया जाता है परंतु १४०२ और १४१४ के बीच में ब्रह्मदेव का राज्य था। यदि केशवदेव का समय १४२० मान लिया जाय तो अलबत्ता कोई बाधा नहीं आती। वह सूची इस प्रकार है—

केशवदास	शासनकाल	लगभग	१४२०	ईसवी
भुवनेश्वरदेव	,,	,,	१४३८	,,
मानसिंहदेव	,,	,,	१४६३	,,
संतोषसिंहदेव	,,	,,	१४७८	,,
सूरतसिंहदेव	,,	,,	१४९८	,,
सं....... ..	,,	,,	१५१८	,,
चामंडासिंहदेव	,,	,,	१५२८	,,
बंशीसिंहदेव	,,	,,	१५६३	,,
धनसिंहदेव	,,	,,	१५८२	,,
जैतसिंहदेव	,,	,,	१६०३	,,
फतेसिंहदेव	,,	,,	१६१५	,,
यादवदेव	,,	,,	१६३३	,,
सोमदत्तदेव	,,	,,	१६५०	,,
बलदेवसिंहदेव	,,	,,	१६६३	,,
उमेदसिंहदेव	,,	,,	१६८५	,,
बनवीरसिंहदेव	,,	,,	१७०५	,,
अमरसिंहदेव	,,	,,	१७४१	,,

अमरसिंहदेव कलचुरियों का अंतिम राजा था जिसको भोसलों ने निकाल बाहर किया। यही हाल उन्होंने रतनपुर की गद्दी के राजा रघुनाथसिंह का किया। अमरसिंह का दिया हुआ ताम्रपत्र आरँग के एक लोधी के पास है जिसमें संवत् १७९२ अर्थात् सन् १७३५ ई० की तिथि अंकित है। मराठों ने सन् १७४० ई० में रतनपुर पर चढ़ाई की और रघुनाथसिंह से राज्य छीन लिया। उसी साल रघुनाथसिंह मर गया। तब सन् १७४५ में उसी वंश के मोहनसिंह को उन्होंने गद्दी पर बिठा

दिया, पश्चात् १७५८ में उसे निकाल दिया। अमरसिंह से मरहठे पहले नहीं बोले परंतु सन् १७५० में उसे थोड़ी सी जागीर देकर धीरे से अलग कर दिया। सन् १७५३ में वह मर गया तब उसके लड़के शिवराजसिंह से जागीर छीन ली गई परंतु जब सन् १७५७ में भोंसलों ने हैहय-राज्य का शासन पूरा अपने हाथ में कर लिया तब ५ गाँव शिवराजसिंह की परवरिश के लिये लगा दिए गए। इस प्रकार 'जड़ सूखी शाखा पुनः सूखे पत्ते अंत। डेढ़ सहस्राब्दिक तरुहिं बिलम न लग्यो भऋंत।'

रतनपुरी राजाओं की शासन-पद्धति

जब तक आदि-गद्दी त्रिपुरी का जोर बना रहा तब तक शासन-पद्धति स्वभावतः उसी प्रकार की चलती रही जैसी कि त्रिपुरी में चलती थी; परंतु जब रतनपुर की शाखा स्वतंत्र हो गई तब पद्धति में भी कुछ अदल-बदल अवश्य हुआ होगा। लेकिन इसका पता छत्तीसगढ़ में मिले हुए लेखों से नहीं लगता। पहले पहल रतनपुरी राजाओं की मुठभेड़ मुसलमानों से बाहरसहाय के समय में हुई। जान पड़ता है कि पठानों के उपद्रव के कारण बाहरसहाय कोसगई के दुर्गम किले में रहने लगा था और रतनपुर में किसी गोविंद नामक व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि बना दिया था। लड़ाई का स्मारक कोसगई ही में मिला था। उसमें लिखा है कि यवन सेना बाहरेंद्र से हार गई। पहली लड़ाइयों में जो कुछ हुआ हो, अंत में मुसलमानी दबदबा स्थिर हो गया और बाहरसहाय का लड़का कल्याणसहाय दिल्ली जाकर शाही दरबार में बहुत दिनों तक रह आया। इसी राजा के जमाने की जमाबंदी की एक किताब मिली थी जो प्रायः ६० वर्ष पूर्व बिलासपुर के बंदोबस्त के अफसर को दिखलाई गई थी। अब उसका पता नहीं है, परंतु उसमें कई बातें ऐसी थीं जिनसे हैहयवंशी राज्य-प्रबंध का पता लगता था। यथा, उसमें लिखा था कि रतनपुर और रायपुर दोनों इलाकों में कुल मिलाकर ४८ गढ़ थे जिनसे साढ़े छः लाख रुपये सालाना आमदनी थी। उसमें हैहयों के करद रजवाड़ों के नाम लिखे थे और सेना का ब्यौरा आगे लिखे अनुसार था—

खड्गधारी	२,०००
कटारधारी	५,०००
बंदूकधारी	३,६००
धनुषधारी	२,६००
घुड़सवार	१,०००
कुल	१४,२००

इसके सिवा ११६ हाथी भी थे। इतनी सेना से कुल राज्य का प्रबंध बराबर हो जाता था। जब अधिक बल की आवश्यकता होती तब उसकी पूर्त्ति जागीरदारों द्वारा की जाती थी। यही इस राज्य का कमजोर पाया था। जब तक जागीरदार या करद राज्यों पर पूरा आतंक बना रहा तब तक तो कुछ गड़बड़ नहीं हुई, परंतु ज्योंही रक्षित राज्यों या जागीरदारों में से किसी ने अपनी सत्ता कुछ दृढ़ रूप से जमा ली त्योंही मामला हाथ के बाहर निकल गया और राजा शक्तिहीन हो गया। अंतिम राजा तो इतने बलहीन और आलसी हो गए थे कि शत्रु के आते ही उन्होंने सिर नवा दिया और १,५०० वर्ष के स्थायी वंश के यश को मिट्टी में मिला दिया। एक अँगरेज अफसर ने अंतिम राजा रघुनाथसिंह के कापुरुषत्व का हाल सुनकर अपनी बंदोबस्त की रिपोर्ट में यह राय दर्ज कर दी है कि हैहय समान नामी नरेश्वरों के अंतिम वंशज को हाथ में तलवार लेकर रणभूमि में मर जाना श्रेय था न कि बिल्ली के समान दबकर प्राण की रक्षा करना। यद्यपि रघुनाथसिंह बूढ़ा और बलहीन हो गया था तिस पर भी उसको वंशोचित और क्षत्रियोचित कार्य से मुँह नहीं मोड़ना था। उसने निष्कलंक वंश में उत्पन्न होकर अपने मुख पर सदैव के लिये कालिमा लगा ली।

नवम अध्याय

महाकोशल के छोटे-मोटे राजा

रतनपुरी कलचुरि शाखा का इतिहास लिखते समय कई छोटे-मोटे राजाओं का जिक्र आया है जिनको जीतकर उन्होंने अपने अधीन

कर लिया था। इनमें से कई प्रतापी घराने थे और किसी किसी का राज्य तो अभी तक स्थिर है। इसलिये यहाँ पर उनका कुछ वर्णन कर देना योग्य जान पड़ता है। जाजल्लदेव के सन् ११९४ ईसवी के शिलालेख में बहुत से देशों के नाम लिखे हैं जहाँ के नृपति उसका स्वामित्व स्वीकार कर उसको कर देने लगे थे। खेद का विषय है कि यह शिलालेख खंडित हो गया है इसलिये पूरी नामावली, जैसी कि मूल में रही होगी, प्राप्य नहीं है तथापि नव देशों के नाम साफ पढ़े जाते हैं। आदि में एक ही नाम गुम हो गया मालूम पड़ता है जो श्लोक के अनुक्रम से जान पड़ता है दो दीर्घ अक्षरों का रहा होगा। इसलिये निम्न उद्धरण में अनुमान से गुमनाम की जगह "लाढ़ा" भर दिया गया है। श्लोक यों है—

[लाढ़ा दक्षि] ण कोशलांध्रखिमिडी वैरागरम् लाञ्जिका,
भाणारस्तलहारि दण्डकपुरम् नन्दावली कुक्कुटः।
यस्यैशां हि महीपमण्डलभृतो मैत्रेन कंचिन्मुदे,
... . कान्यन्वब्द किलतम् ददुः॥

इस श्लोक के आदि ही में लाढ़ा कल्पित नाम के रख देने का कारण यह है कि रतनपुर से कोई बीस मील आग्नेय को कोटगढ़ नामक किला है उसमें एक शिलालेख रत्नदेव द्वितीय के समय का मिला है। उसमें लिखा है कि वहाँ पर एक वैश्य राजा देवराज नामक था जो रत्न-देव के पूर्वजों का मंडलेश्वर था। उसका पोता हरिगण कलचुरियों का परम हितैषी और सहायक था। उसके लड़के वल्लभराज ने लदहा और गौड़ देश पर धावा किया और सप्ताश्व (सूर्य) के पुत्र रेवंत का मंदिर बनवाया, वल्लभसागर नामक तालाब खुदवाया और एक भारी वाजिशाली अर्थात् घुड़सार बनवाई। डाक्टर देवदत्त भांडारकर ने अनु-मान किया है कि यह लदहा या लहदा देश दक्खिन में है जिसका जिक्र वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में अस्मक और कुलूत के साथ किया है, परंतु हरिगण सरीखे छोटे से मंडलेश्वर का, जो एक घुड़सार बनवाने में अपनी प्रतिष्ठा समझता था, इतने दूर दक्षिणस्थ लहदा पर धावा करना

असंभव सा प्रतीत होता है। लेखक के मत के अनुसार लदहा या लढ़हा, लाड़ा या लाढ़ा का अपभ्रंश है जिसका वर्तमान रूप लड़िया या लरिया हो गया है। छत्तीसगढ़ में जहाँ उड़िया और हिंदी बोलियों का मिलाप होता है वहाँ पर उड़िया बोलीवाले देश को उड़िया और हिंदी बोलीवाले देश को लड़िया कहते हैं। यह स्थल कोटगढ़ से बहुत दूर नहीं है। उसी के परे बंगाल देश लगा हुआ है, जिसे पहले गौड़ कहते थे। इससे जान पड़ता है कि वल्लभराज ने कोटगढ़ के पूर्व की ओर धावा किया और लाड़ा या लरिया वर्तमान रायगढ़ रजवाड़े को जीत लिया। राजिम के सन् ११४५ के लेख में वर्णन है कि जगपालदेव ने रायगढ़ के उत्तरस्थ राठ, तमनाल व तेरम को जीतकर हैहय राज्य में मिला लिया, परंतु रायगढ़ के दक्षिणी भाग का जिक्र कहीं नहीं पाया जाता। कारण स्पष्ट है। जब उस भाग को हरिगण ने जीतकर हैहय राज्य में शामिल करवा दिया था तब जगपालदेव उसको अपने वंश की कृतियों में कैसे शामिल कर सकता था? जान तो ऐसा पड़ता है कि लाड़ा या लदहा तेरम, तमनाल आदि जीते जाने के पहले ही हैहयाधीन हो चुका था इसलिये उसका नाम जाजल्लदेव के करद राज्यों में शामिल रहना असंगत नहीं है।

दूसरा करद राज्य दक्षिण कोशल लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि बारहवीं शताब्दी में यह नाम एक संकुचित मंडल का द्योतक था। आम तौर से दक्षिण कोशल नाम सारे छत्तीसगढ़ को लागू था परंतु उसके मध्य में कोई खास इलाका रहा होगा जो इस नाम से प्रख्यात था और जहाँ का राजा हैहयाधीन हो गया था। इसमें कोई अचरज की बात नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि वर्तमान नामावली में भी इसी प्रकार के एक के अनेक अर्थ प्रसंगानुसार होते हैं, यथा नागपुर जिला कहने से इन दिनों एक करीब चार हजार वर्ग मील के क्षेत्र का बोध होता है जो नागपुर डिवीजन का प्रायः छठाँ अंश है। दक्षिण कोशल का विशेष मंडल दक्षिण कोशल देश का इसी प्रकार एक छोटा हिस्सा रहा होगा। अनुमान से जान पड़ता है कि यह भाग रायपुर जिले के

मध्य में रहा होगा क्योंकि उसके आसपास के भागों के प्राचीन नाम मिलते हैं, उसी भाग का कोई विशेष नाम नहीं पाया जाता।

तीसरा मंडल आंध्र खिमिड़ी है। कोई कोई इसे पृथक् पृथक् कर आंध्र अलग और खिमिड़ी अलग गिनते हैं। शब्द के दोनों अर्थ यानी आंध्रदेशस्थ खिमिड़ी या आंध्र और खिमिड़ी सार्थक हैं; परंतु एक बात यह है कि त्रिपुरी के राजा यश:कर्णदेव ने आंध्र देश के राजा को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। रत्नपुरी राजाओं ने त्रिपुरी से विरोध नहीं किया फिर त्रिपुरी का करद राज वे अपने रजवाड़ों में कैसे शामिल कर सकते थे? इसी से जान पड़ता है कि यहाँ पर आंध्र खिमिड़ी का अर्थ आंध्र देशस्थ खिमिड़ी है, न कि आंध्र और खिमिड़ी। खिमिड़ी (वर्तमान नाम किमिड़ी) गोदावरी के उस पार गंजाम जिले में बड़ी भारी जमींदारी है। यहाँ के जमींदार उड़ीसा के राजाओं के वंशज बतलाए जाते हैं। पहले वे यहाँ के राजा थे। पूरी किमिड़ी का क्षेत्रफल ३३०० वर्ग मील से अधिक है परंतु कोई २७०० वर्गमील मे बड़ा सघन जंगल लगा है। अब किमिड़ी के तीन विभाग हो गए हैं जो परला, पेद्दा और चिन्ना किमिड़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चौथा मंडल वैरागरम् वर्तमान वैरागढ़ है। यह चाँदा जिले में विद्यमान है। इसका दूसरा प्राचीन नाम वज्राकर था, क्योंकि वहाँ पर वज्र अर्थात् हीरे की खानें थीं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वैरागरम् प्राचीन नाम नहीं है। उसका नाम इसी रूप में तामिल काव्य शिलप्पदिगारम् में मिलता है। यह काव्य सन् ११० और १४० ई० के मध्य में लिखा गया था। वज्राकर के रूप में इसका जिक्र नागवंशी राजा सोमेश्वर के शिलालेख में आता है। उसमें रत्नपुर का भी जिक्र है। जाजल्लदेव के लेख में सोमेश्वर के पछाड़ने का भी उल्लेख है। सोमेश्वर के लेख से विदित होता है कि महाकोशल में छ: लाख छियानबे गाँव थे जो उसने छीन लिए थे, परंतु जाजल्लदेव ने इस बेहूदगी का फल उसे चखा दिया। वह रण में सोमेश्वर की असंख्य सेना को यम-सदन पहुँचाकर स्वयं उसको बाँध लाया। सोमेश्वर का

लेख बहुत ही संक्षिप्त अवस्था में है, नहीं तो उससे बहुत कुछ ऐतिहासिक पता लगता। वर्तमान दशा में भी उसमें लाँजी, रतनपुर, लेम्णा, वेंगी, भद्रपत्तन, वज्र और वडू के नरेशों का जिक्र मिलता है। इनमें से कोई कोई जाजल्ल के करद मंडलेश्वर थे, जैसा कि क्रमशः ज्ञात होता जायगा।

लीजिए, पाँचवाँ मंडलेश्वर ही जाजल्लीय लेखानुसार लाञ्जिका या लाँजी का अधिपति था जैसा ऊपर अभी वर्णन कर आए हैं। लाँजी का नाम सोमेश्वर के लेख में भी मिलता है। लाँजी बालाघाट जिले मे है। वह प्राचीन काल मे उस जिले या इलाके की राजधानी थी। अब भी वहाँ पर अनेक प्राचीन खँड़हर और शिलालेख मौजूद हैं। शिलालेख बहुत घिस जाने से पढ़े नहीं जाते।

लाँजी से लगा हुआ भाणारा वर्तमान भंडारा है। वहाँ अलग मंडलेश्वर था जो जाजल्ल को कर देता था।

अब जाजल्ल का प्रशस्तिकार पाठक को रायगढ़, रायपुर, गंजाम, चाँदा, बालाघाट और भंडारा की सैर कराकर रतनपुर के पाद-तल मे तलहारी को वापस लिए जाता है और पश्चात् भूलभुलैयाँ में डाल देता है। वह कहता है कि दंडकपुर, नंदावली और कुक्कुट मंडलों का भी अवलोकन कर आओ पर अब पता ही नहीं लगता कि ये स्थान थे कहाँ। छत्तीसगढ़ मे फैला हुआ अरण्य पहले दंडक नाम से प्रसिद्ध था। जान पड़ता है कि इसके मध्य मे कोई पुर बसा था जिसका नाम दंडकपुर था। पाठक इसकी खोज करें। प्रयत्न करने से कदाचित् पता लग जाय। यही बात नंदावली और कुक्कुट की है। कुक्कुट के पर्यायवाची 'मुर्गी ढाने' तो बहुत से हैं परंतु उनमें से कौन सा प्राचीन मंडलेश्वर का पुर था, यह लेखक को अभी तक मालूम नहीं हुआ। इसका पता कदाचित् छत्तीसगढ़-गौरव-प्रचारक मंडली द्वारा लग सके। हाँ, एक और स्थल का जिक्र सोमेश्वर के लेख में है जिसका अर्थ लेम्णा वर्तमान लवण या लवन हो सकता है। यह रायपुर के पूर्वीय इलाके का नाम है। प्रसंग-वश यह भी बता देना उचित जान

पड़ता है कि सोमेश्वर के लेखवाले वेंगी, भद्रपत्तन और वज्र क्रमश: गोदावरी और कृष्णा मध्यस्थ इलाका, भाँदक और वड़ोसा हैं।

जगपालदेव के राजिमवाले लेख का जिक्र पहले कई बार आ चुका है और जिन देशों के जीतने का उल्लेख उसमें है उनके नाम भी बतला दिए गए हैं। वहाँ के राजाओं का विशेष हाल प्राप्य नहीं है, क्योंकि राजाओं के नाम या उनके वंशों का पता उस लेख में दिया नहीं गया। जगपाल के पुरखों ने प्रथम भट्टविल और विहरा को सर किया। भट्टविल, जो भटघोड़ा भी कहलाता था, बघेलखंड का प्राचीन नाम कहा जाता है। उस जमाने में भट्टविल की सीमा कहाँ तक थी, इसका कहीं पता नहीं लगता। निदान वह वर्तमान पूरे बघेलखंड की सीमा नहीं रही होगी, क्योंकि बघेलखंड ही कलचुरियों का आदि-स्थान माना जाता है। कदाचित् वहीं से वे त्रिपुरी गए थे। तब से प्राचीन बघेलखंड में त्रिपुरी के कलचुरियों का अधिकार बहुत पहले ही से रहा होगा। फिर जगपाल सरीखे मांडलिक उनको कैसे हरा सकते थे?

इससे यही सिद्ध होता है कि बघेलखंड के किसी कोने में भट्टविल कोई छोटी रियासत थी जिसको जगपाल के पुरखों ने जीतकर रतनपुर के हैहयों के जिम्मे कर दिया। विहरा भी कदाचित् उसी के निकट कोई छोटी सी रियासत रही होगी।

जगपाल ने राठ, तेरम और तमनाल तीनों के नाम लिखे हैं। ये रायगढ़ के उत्तर में नजदीक नजदीक स्थान हैं जो कदापि बड़े रजवाड़े कभी न रहे होंगे। संभव है कि इनके छोटे छोटे स्वतंत्र जंगली राजा रहे हों। उन तीनों को जगपाल ने जीत लिया और अपनी महिमा बढ़ाने के हेतु उन तीनों के नाम खुदवा दिए। मांडलिकों में भी तो भेद होता है। कोई कोई हैदराबाद के बराबर बृहत् और कोई चुटकी में समाने योग्य छोटे 'सक्ती' के समान होते हैं, परंतु उनकी गणना तो पृथक् पृथक् होती ही है।

जगपाल के लेख से जान पड़ता है कि उसने मयूरभंज पर चढ़ाई तो नहीं की, परंतु वहाँ के मायूरिक लोग उसके आतंक से जंगलों

में छिप गए। इसी प्रकार बिलासपुर जिले के जंगली भाग में रहनेवाले साँवता लोग पहाड़ों को भाग गए। जगपाल तलहारी को द्वितीय रत्नदेव के समय में जीतने का दावा करता है; परंतु यह मंडल, जो दक्षिण की ओर रतनपुर से बिलकुल सटा हुआ था, रत्नदेव के पिता जाजल्लदेव के करद राज्यों मे शामिल है। संभव है कि रत्नदेव के समय वहाँ का राजा बिगड़ उठा हो, तब जगपाल ने उसका दमन किया हो। जब तक अन्य कोई प्रमाण न मिले तब तक इसका निर्णय करना कठिन जान पड़ता है।

अभी तक जिन स्थानों के विजय का वर्णन किया गया है वे रतनपुर के आसपास उत्तर, पूर्व और दक्षिण के मंडल थे। अब जगपाल पश्चिम को बढ़ता है और सिंदूरमाँगु अथवा सिंदूरागिरि वर्त्तमान रामटेक को सर करता है। इससे जान पड़ेगा कि रामटेक का मंडलेश्वर भंडारा के मंडलेश्वर से भिन्न था। पृथ्वीदेव के जमाने में जगपालदेव ने अपना अड्डा दुर्ग में जमाया। दुर्ग बड़ा प्राचीन स्थान है। वहाँ पर मिले हुए लेखों से जान पड़ता है कि किसी शिवदेव नामक शैव राजा ने उसे बसाया था और उसका नाम शिवपुर रखा था। जब वहाँ पर किला बन गया तब उसका नाम शिवदुर्ग चलने लगा। कालांतर में उस नाम का प्रथम भाग कटकर केवल दुर्ग रह गया। जगपाल के समय में दुर्ग में कौन राजा था, इसका परिचय तो नहीं दिया गया; परंतु जान पड़ता है कि वहाँ के प्राचीन राजा को हटाकर जगपाल ने राजधानी का नाम अपने नाम से जगपालपुर प्रसिद्ध किया था, यद्यपि वह उसकी मृत्यु के बाद चल नहीं सका और पूर्व नाम का प्रचार पुनः हो गया। जगपाल दुर्ग के दक्षिण को बढ़ा और उसने सरहरागढ़ वर्त्तमान सोरर को ले, मचका सिहवा (वर्त्तमान मेचका सिहावा) को अपने अधीन कर लिया और भ्रमरवद्र या भ्रमरकूट (वर्तमान बस्तर) के राजा को हरा काकरय (वर्तमान कांकेर) कांतार कुसुमभोग और कांँदाडोंगर को छीन लिया। कांँदाडोंगर बिंद्रानवागढ़ जमींदारी के बिलकुल दक्षिण में है। इस प्रकार उसने रायपुर जिले

के पूर्व और दक्षिण का भाग हैहयों के राज्य में मिला दिया। इस वर्णन में यह बात खटकती है कि प्रथम जाजल्लदेव के समय में जब दूरस्थ किमिडो और वैरागढ़ के बीच के स्थान हैहय-आश्रय में आ गए तो क्या इनके बीच के रजवाड़े स्वतंत्र ही छोड़ दिए गए थे? यह तो निर्विवाद है कि हैहय राजा पराजित शत्रु को निकालते नहीं थे, केवल अपना आधिपत्य स्वीकार करा लेते थे। संभव है कि जाजल्लदेव के प्रताप को देखकर चाँदा और रतनपुर के मध्यस्थ राज-वृंद ने हैहयों का आधिपत्य मान लिया हो और उसके पोते के समय में अवसर पा वे फिर स्वतंत्र हो गए हों। जगपालदेव को हैहय-कोष बढ़ाने की चिंता थी इसलिये यह भी संभव है कि सिहावा आदि की ओर के मांडलिकों के विरोध न करने पर भी जगपाल ने कुछ बहाना बनाकर उनका राज्य छीन लिया हो।

कवर्धा के नागवंशी

ऊपर संकलित हैहयों के मांडलिकों की तालिका पूरी नहीं समझ लेनी चाहिए, और न यही मान लेना चाहिए कि जिनको हैहयों ने हरा दिया वे सदैव के लिये मांडलिक बने बैठे रहे। बस्तर के नागवंशियों पर तो उनका आधिपत्य नाम मात्र का ही रहा। वे यथार्थ मे स्वतंत्र ही बने रहे और अपने ही बल पर गोदावरी के उस पार के राजाओं से लड़ाई लेते रहे जिसका वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ पर हैहयों के निकटस्थ उन मांडलिकों का कुछ ब्यौरा दे देना उचित जान पड़ता है जिनका नाम ऊपर की तालिका में नहीं आया। बिलासपुर जिले से लगी हुई कवर्धा रियासत के चौरा नामक ग्राम में एक मंदिर है जिसको अब मँड़वा महल कहते हैं। वहाँ एक शिलालेख है जिसमें नागवंशी २४ राजाओं की वंशावली दी गई है। यह लेख १३४९ ई० का है। इससे स्पष्ट है कि इस वंश का मूल-पुरुष दसवीं शताब्दी के लगभग राज्य करता रहा होगा। जिस राजा ने यह लेख खुदवाया है उसने हैहय-राजकुमारी अंबिकादेवी से विवाह किया था। जान पड़ता है कि इस वंश के राजा पहले ही से हैहयों के मांडलिक हो गए थे, इसलिये इनके

विजय करने या करद राज्यों में गणना करने की आवश्यकता नहीं समझी गई, क्योंकि इन लोगों में मालेदारी चलने लगी थी। इनके वंश की उत्पत्ति कुछ कुछ हैहयों की उत्पत्ति से मिलती जुलती है। हैहय अपनी उत्पत्ति अहि-हय अर्थात् नाग पिता और घोड़ी माता से बतलाते हैं। कवर्धा के नागवंशी अहि पिता और जातुकर्ण ऋषि की कन्या मिथिला माता से बताते हैं। इनका पुत्र अहिराज हुआ जो इस वंश का प्रथम राजा गिना गया है। उसका लड़का राजल्ल, उसका धरणीधर, उसका महिमदेव, उसका सर्ववंदन या शक्तिचंद्र, उसका गोपालदेव हुआ। चौरा के निकटवर्ती बोड़मदेव नामक मंदिर में एक लेख एक मूर्त्ति के तले लिखा मिला है जिसमें तत्कालीन राजा का नाम गोपालदेव और संवत् ८४० अंकित है। यदि इन दो गोपालदेवों को एक ही व्यक्ति मानें और संवत् को कलचुरि संवत् गिनें तो शिला-लेख के समय तक २६१ वर्षों का अंतर आता है जिसमें १५ पीढ़ियों और १८ राजाओं का समावेश करना पड़ता है। इस अवस्था में एक पीढ़ी की औसत आयु १७॥ साल और राजा के शासन-काल की औसत १४ साल होती है। यदि संवत् विक्रम माना जाय तो गोपाल-देव से लेकर अंतिम राजा रामचंद्र तक ५६६ वर्षों का काल होता है, जिसके अनुसार पीढ़ी की औसत आयु ३८ साल और शासन-काल की औसत अवधि ३१॥ साल पड़ेगी। ये दोनों बातें मेल नहीं खातीं। एक पीढ़ी की ३८ साल औसत आयु बहुत अधिक हो जाती है और १७॥ वर्ष बहुत ओछी पड़ जाती है। संवत् ८४० को शालिवाहन का मानने से पीढ़ी की औसत २९ साल और शासन-अवधि २६ साल पड़ जाती है परंतु यह भी प्रचलित लेखे के अनुसार समुचित नहीं है। इसके सिवाय कवर्धा की ओर शालिवाहन के संवत् का कभी प्रचार नहीं रहा। उस ओर के लेखों में तिथियाँ कलचुरि या विक्रम संवत् के अनुसार डाली जाती थीं। रामचंद्र के लेख में भी यद्यपि विक्रम के नाम का साफ-साफ संकेत नहीं है परंतु उसमें इतना लिखा है कि संवत् १४०६ में जय नाम संवत्सर चल रहा था तब वह लिखा गया। गणना करने

से स्पष्ट है कि जय नाम संवत्सर विक्रमीय १४०६ साल में पड़ा था। इन कारणों से यहीं से नागवंशावली में शंका उत्पन्न हो जाती है जिसका निवारण आगे चलकर किया जायगा।

गोपालदेव का लड़का नलदेव और उसका भुवनपाल हुआ। इसके दो पुत्र—कीर्त्तिपाल और जयत्रपाल—हुए, जो एक के पीछे एक गद्दी पर बैठे। जयत्रपाल के मरने पर उसका लड़का महिपाल राजा हुआ, फिर उसका पुत्र विषमपाल, फिर उसका पुत्र जन्हुपाल, फिर उसका जनपाल या विजनपाल और फिर उसका पुत्र यशोराज राजा हुआ।

यशोराज यशस्वी राजा जान पड़ता है, क्योंकि इसके समय के लेख कंकाली और सहसपुर में पाए जाते हैं। एक लेख में उसकी तिथि स्पष्ट रूप से कलचुरि संवत् ९३४ कार्तिक पूर्णिमा बुधवार लिखी है। कलचुरि संवत् के अनुसार हिसाब लगाने से यह ठीक सन् ११८२ ई० के १३ अक्टूबर बुधवार को पड़ती है। गोपालदेव और यशोराज के बीच ८ पीढ़ियाँ और ९४ वर्षों का अंतर पड़ता है जिससे औसत आयु १२ वर्ष ही रह जाती है। शासन-अवधि चाहे जितनी छोटी हो जाय परंतु पीढ़ी की आयु इतनी ओछी हो नहीं सकती। इससे सिद्धांत यही निकलता है कि वंशावली लंबी-चौड़ी करके नागवंश की प्राचीनता का महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है और कुछ कल्पित नाम घुसेड़ दिए गए हैं या नाता बताने में गलती हुई है।

यशोराज का पुत्र कन्हड़देव या वल्लभदेव था। उसका लक्ष्मवर्मा हुआ जिसके दो पुत्र थे—एक खड्गदेव और दूसरा चंदन। गद्दी खड्गदेव को मिली। उसके पश्चात् उसका लड़का भुवनैकमल्ल उत्तराधिकारी हुआ, फिर उसका लड़का अर्जुन, फिर उसका भीम और फिर उसका भोज क्रमशः गद्दी पर बैठे। भोज के निस्संतान होने के कारण गद्दी चंदन की शाखा को पहुँची और उसके लक्ष्मण नामक प्रपौत्र को मिली। इसी लक्ष्मण का लड़का रामचंद्र था जिसने शिलालेख लिखवाया।

गोपालदेव और यशोराज की तिथियों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि कवर्धा के नागवंशियों का आरंभ दसवीं शताब्दी

५

में हुआ और कुल पीढ़ियाँ २१ के बदले १८ ही हुईं। जान पड़ता है कि गोपाल और यशोराज के मध्यस्थ राजाओं के रिश्ता बताने में कुछ भूल हुई है। संभव है, गोपालदेव और नलदेव पिता पुत्र न होकर भाई भाई रहे हों। इसी प्रकार महिपाल व विषमपाल और जन्हुपाल और जनपाल का नाता रहा हो, तब तो गोपाल और यशोपाल के बीच की तीन पीढ़ियाँ घट जाती हैं जिससे पीढ़ी की औसत आयु १२ से बढ़कर १६ वर्ष हो जाती है। पुनः सहसपुर के लेख में यशोराज की रानी का नाम लक्ष्मादेवी और राजपुत्रों का भोजदेव व राजदेव लिखा है, परंतु वंशावली में कन्हड़देव या वल्लभदेव बतलाया गया है और उसका पुत्र लक्ष्मवर्मा लिखा है। यद्यपि यह असंभव नहीं है कि यशोराज के तीसरा पुत्र हुआ हो जिसको गद्दी मिली हो तो भी यह झलक उठता है कि नामों में कुछ गड़बड़ हो गई है। यदि कन्हड़ और लक्ष्म भोज और राजदेव के दूसरे नाम रहे हों तो कन्हड़ और लक्ष्म को पिता पुत्र न मानकर भाई मानना पड़ेगा। ऐसा करने से यशोराज ११वीं और अंतिम राजा १७वीं पीढ़ी में पड़ेगा। इससे पीढ़ी की आयु का झगड़ा मिट जायगा। गोपालदेव अहिराज से छठी पीढ़ी में हुआ, जिससे जान पड़ता है कि इनके बीच प्रायः सौ वर्ष का अंतर रहा होगा, इसलिये कवर्धा के नागवंश का आरंभ दसवीं शताब्दी के अंत में मानना असंगत न होगा। एक शिलालेख मे यशोराज की पदवी महाराणक लिखी है, इसलिये इस वंश के मांडलिक होने में संशय ही न रहा।

कवर्धा के राजवंशी रतनपुर के निकट होने के कारण अधिक दबे रहते थे। परंतु दूर के मांडलिक प्रायः स्वतंत्र से रहते थे। इनमें से एक कांकेर के राजा थे। कांकेर रायपुर से ८० मील है इसलिये वह रतनपुर से इसके दूने से अधिक बैठेगा। कांकेर पहले बड़ा राज्य था। उसमें पहले धमतरी तहसील और कुछ भाग बालोद तहसील का शामिल था। कांकेर में सोमवंशी राजा राज्य करते थे जिनके कई शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं परंतु उनमें सबसे प्राचीन तिथि ११९२ ई०

कांकेर के सोमवंशी

की मिलती है, किंतु हैहय सेनापति जगपालदेव ने काँकेर को सन् ११४५ ईसवी के पूर्व ही जीत लिया था।

सन् ११९२ ईसवी में काँकेर का राजा कर्णराज था। उसके पिता का नाम वोपदेव, दादा का व्याघ्रराज और परदादा का सिंहराज था। पहले राजधानी सिहावा में थी। सिहावा का नाम सिंहराज ही के नाम पर धराया गया था। जगपालदेव ने कदाचित् कर्ण के पिता वोपदेव को हराया होगा, क्योंकि उसने अपनी विजय-सूची में सिहावा और काँकेर दोनों के नाम लिखे हैं। वोपदेव के तीन लड़के थे—कर्णराज, सोमराज और रणकेसरी। इनको अपने जीते-जी उसने सिहावा, काँकेर और पाड़ी का शासक बना रखा था। यदि ये भिन्न न समझे जाते तो जगपाल को सिहावा और काँकेर दोनों के लिखने की आवश्यकता न पड़ती। जगपाल गहरे संबंध की खोज में नहीं रहता था, वह तो अपने विजय की लंबी सूची बनाकर दिखाना चाहता था, इसलिये जिन इलाकों में कुछ भी भेद मिलता उनको अलग इलाका या मंडल करार देकर नाम दर्ज कर लेता था। वंशावली के आधार पर सिंहराज का समय १०६४ ईसवी के लगभग पड़ता है। कर्णराज के वंश में जैत्रराज, सोमचंद्र और भानुदेव हुए। भानुदेव के समय का एक लेख मिला है जिसकी तिथि १३२० ईसवी में पड़ती है। भानुदेव का पिता काँकेर ही जाकर जम गया था। सोमचंद्र का लड़का पंपराज पाड़ी मे रहता था। उसके दो ताम्रशासन मिले हैं जिनकी तिथि सन् १२१६ ई० में पड़ती है। पाड़ी का पता नहीं लगता, परंतु पंपराज काँकेर में भी जाकर रहा करता था। उसने एक दान काँकेर-समावास और एक पाड़ी-समावास से किया था। इससे जान पड़ता है कि उसकी मूल घराने से मैत्री थी और काँकेर का राज्य इनके बीच विभक्त नहीं हुआ था। इसी लिये वह वंश समूचा और बलवान् बना रहा। काँकेर के सोमवंशी राजा हैहयों का आधिपत्य मानते रहे, परंतु जान पड़ता है वे कुछ स्वेच्छाचारी थे। उनके लेखों में किसी में शक संवत् और किसी में कलचुरि संवत् पाया जाता है। कर्णराज और भानुदेव के शिलालेखों में शक संवत् और पंपराज के ताम्रशासनों में कलचुरि संवत् का उपयोग किया गया है।

दशम अध्याय

नागवंशी

काँकेर के परे बस्तर का राज्य है। इसका प्राचीन नाम चक्रकूट या भ्रमरकूट था। यहाँ पर नागवंशी राजा राज्य करते थे। इनकी विरुदावली से इनके गौरव का कुछ पता लग जाता है। जिस सोमेश्वर से हैहयों की मुठभेड़ हुई उसका विरुद था "सहस्रफणामाणिनिकरावभासुर नागवंशोद्भव भोगावतीपुरवरेश्वर सवत्सव्याघ्रलाञ्छन काश्यपगोत्रप्रकटीकृत विजयघोषणालब्ध विश्वविश्वंभर परमेश्वर परमभट्टारक महेश्वरचरणकमलकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरितभ्रमरायमाणसत्यहरिश्चन्द्रशरणागतवज्रपञ्जर प्रतिगण्डभैरव श्रीमद्रायभूषण महाराज सोमेश्वरदेव:।" कहीं कहीं पर 'विक्रमाक्रान्त सकलरिपुनृपतिकिरीटकोटिप्रभामयूखद्योतितामलचरणकमलचक्रकूटाधीश्वर' भी लिखा हुआ पाया जाता है। यद्यपि इन विरुदों में बहुत सी अत्युक्ति है तथापि इस प्रकार के अभिमान रखनेवाले राजा किसी के मांडलिक बनकर नहीं रह सकते थे, इतनी बात तो स्पष्ट झलक पड़ेगी। नागवंशियों के अधिकार में कई मांडलिक ही नहीं वरन् महामंडलेश्वर थे। उनमें एक अम्मगाम के महाराज चंद्रादित्य थे जो चोलराज करिकाल के वंशज थे।

बस्तर के नागवंशी

नागवंशी प्रतापी राजा थे। उनका एक घराना हैदराबाद के यलबरगा में राज्य करता था। इन लोगों की मूल राजधानी भोगावती में थी, परंतु उसका अभी तक पता नहीं लगा कि वह कहाँ थी। ये लोग छिंदक या सिंदवंशी भी कहलाते थे। इनकी कई शाखाएँ हो गई थीं; जिन्होंने अपने लांछन और ध्वज-पताका या केतन अलग अलग प्रकार के बना लिए थे। व्याघ्र सब घरानों के लांछनों में दिखलाया जाता था, क्योंकि उनकी उत्पत्ति की कथा में अहिराज द्वारा मूल पुरुष को बाघिनी का दूध पिलाकर जिलाए जाने का जिक्र है। बस्तर में इनकी दो शाखाएँ थीं। एक का लांछन सवत्स व्याघ्र और दूसरी का धनुर्व्याघ्र

था। पहली शाखा के ध्वज का तो विवरण नहीं मिलता, परंतु द्वितीय का कमल कदली था। बागलकोट की शाखा का लांछन केवल व्याघ्र था, परंतु केतन फणि था। इसी प्रकार हलपुर शाखा का लांछन व्याघ्र-मृग और केतन नीलध्वज था।

नागवंशी बस्तर में कब आकर जमे, इसका ठीक पता तो नहीं लगता परंतु इनके सबसे पुराने शिलालेख की तिथि सन् १०२३ ई० में पड़ती है जब कि नृपतिभूषण नामक राजा राज्य करता था। सन् १०६० के लगभग जगदेकभूषण धारावर्ष का राज्य हुआ। इसी का लड़का सोमेश्वर था जो सन् ११०८ में जीता था और सन् ११११ के पहले परलोकगामी हो गया था, क्योंकि पिछले संवत् का एक लेख उसके पुत्र कन्हरदेव के समय का मिला है जिसमें सोमेश्वर के स्वर्ग-गमन करने का उल्लेख है। जान पड़ता है कि नागवंश में सोमेश्वर ही बड़ा प्रतापी राजा हुआ, जिसने हैहयों से लड़ाई ले उनके बहुत से गाँव छीन लिए, वैरागढ़ और भाँदक के राजाओं को हराकर अपने वश कर लिया और गोदावरी तथा कृष्णा का मध्यस्थ देश, जिसका नाम वेंगी था, जला दिया। आग लगाकर नाश करने की उस समय बड़ी चाल थी। अब भी तो बंद नहीं हुई। लड़ाइयों में शत्रुओं के ग्राम आग द्वारा नष्ट कर ही दिए जाते हैं। बस्तर भी शत्रुओं की आग से बचा नहीं रहा। उसमें कई बार आग लगाई गई। पहले पहल चालुक्यों ने सन् ८८४ व ८८८ ई० के बीच धावा करके चक्रकूट को जला डाला। फिर चोल राजा प्रथम राजेंद्र ने सन् १०११ व १०१३ ई० के बीच उसे लूट डाला, फिर उसके वंशज वीर राजेंद्र ने आक्रमण किया, फिर कुलो-त्तुंग ने सन् १०७० के पूर्व ही उसे झकझोर डाला। पश्चात् बारहवीं सदी में मैसूर के राजा विष्णुवर्धन होयसल ने अपनी तृष्णा पूर्ण की। जान पड़ता है कि सोमेश्वर ही ने बस्तर की द्वितीय शाखा के नायक मधुरांतक को मारकर उसकी जड़ उखाड़ दी। कन्हरदेव के पश्चात् तीन-चार और नागवंशी राजाओं के नाम मिलते हैं परंतु उनका परस्पर संबंध कैसा था, यह मालूम नहीं पड़ता। सन् १२१८ ई० में जगदेक-भूषण

नरसिंहदेव का शासन पाया जाता है, सन् १२४२ में कन्हरदेव द्वितीय का और सन् १३४२ में हरिश्चंद्रदेव का। दंतेवाड़ा के एक लेख में महाराज राजभूषण और उसकी बहिन मासकदेवी का जिक्र है। वह मासकदेवी की ओर से सर्वसाधारण को विज्ञापन है जिसमें लिखा है कि "चूँकि राजअधिकारी वसूली करने में किसानों को बहुत तंग करते हैं इसलिये पाँच महासभाओं के मुखियों ने सभा करके यह नियम बनाया है कि जिन गाँवों से राजअभिषेक के समय रुपया आदि वसूल किया जाता है वह ऐसे ही लोगों से वसूल किया जाय जो चिरकाल के निवासी हों। इसलिये सूचना दी जाती है कि जो कोई इस नियम का पालन न करेगा वह राजद्रोही और मासकदेवी का द्रोही समझा जायगा।"

नागवंशियों के लेखों में एक विचित्रता पाई जाती है। वह यह कि जितने लेख इंद्रावती नदी के उत्तर के हैं वे सब नागरी अक्षरों में, संस्कृत में, लिखे गए हैं। इंद्रावती के दक्षिण के समस्त लेख तिलंगी भाषा व अक्षरों में खोदे गए हैं। इंद्रावती, जो बस्तर के बीचोबीच होकर बहती है, उस जमाने मे नागरी और तिलंगी की सीमा थी। बस्तर के नागवंशियों का दौरदौरा तेरहवीं शताब्दी के अंत तक बना रहा। चौदहवीं के लगते ही उनका लोप हो चला और वारंगल के काकतीयों का अधिकार जम गया। यद्यपि बस्तर में लूट-मार बहुत मची रहती थी तथापि नाग ंशियों का शासन बुरा नहीं था। प्रजा के स्वत्वों का विशेष विचार किया जाता था और उनके प्रतिनिधियों की सलाह से बहुत सा राज-काज किया जाता था। बस्तर राज्य ऐसी चोट की जगह पर था कि अन्य राजा जब चाहे तब आक्रमण कर बैठते थे, तिस पर भी नागवंशी अपने को सदैव सँभालते रहे और चार-पाँच सौ वर्ष तक किसी की दाल नहीं गलने दी, यद्यपि उनके शत्रु हैहय, चोल और होयसल सरीखे बड़े बड़े नृपति थे। शिलालेखों के पढ़ने से जान पड़ता है कि नागवंशी-काल में बस्तर में अच्छे विद्वान् पंडित रहते थे। वह निरा मुरिया-माड़िया-पूर्ण जंगल नहीं था, जैसा कि इन दिनों है।

वहाँ की प्राचीन शिल्पकारी भी प्रशंसनीय है। समय का फेर है जिससे उसने पुनः रामचंद्र के समय का रूप धारण कर लिया। बनवास का अधिकांश समय रामचंद्रजी ने बस्तर रजवाड़े ही में, पर्णशाला नामक ग्राम में, बिताया था। यह ग्राम अभी तक विद्यमान है। वहीं से सीता का हरण हुआ था। जान पड़ता है, तभी से उसके माथे पर "श्रीविहीन" शब्द लिखा गया। नागवंशी कितने ही वीरत्वपूर्ण रहे हों परंतु उनके श्रीपूर्ण होने का प्रमाण नहीं मिलता। उनके बनवाए हुए काम इस कोटि के नहीं हैं कि वे अतुलित संपत्ति के सूचक हों।

एकादश अध्याय

विविध राजवंश

परमार

नवीं शताब्दी से बारहवीं तक निमाड़ के उत्तरीय भाग में धार के परमारों का दौरदौरा रहा। असीरगढ़ के आसपास टाक राजपूतों के आधिपत्य की आख्यायिका है। असीर के टाकों का जिक्र केवल चंद बरदाई के पृथ्वीराजरासो में पाया जाता है, परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि उस असीर से निमाड़ का असीरगढ़ समझना चाहिए। परमारों के कई शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं जिनमे इस जिले के कई गाँवों के दान दिए जाने का उल्लेख है। सबसे पुराना भोजदेव के पुत्र जयसिंहदेव का है जिसकी तिथि १०५५ ई० में पड़ती है। मालवा के परमार वंश का राज्य ८२५ ई० के लगभग आरंभ होता है। जयसिंह उस वंश का दसवाँ राजा था। इस जिले में दो लेख देवपालदेव के समय के मिले हैं जिनकी तिथियाँ सन् १२१८ व १२२५ ई० की हैं। एक जयवर्मा का लेख है जिसकी तिथि १२६० ई० में पड़ती है। देवपालदेव परमार वंश का बीसवाँ

राजा था। उसका लड़का जयवर्मा था जो अपने भाई जैतुगिदेव के पश्चात् गद्दी पर बैठा। इस वंश के सातवें राजा मुंज ने गोदावरी तक अपना अधिकार जमा लिया था। उसका समय १०१० ई० में पड़ता है। मुंज बड़ा साहित्य-प्रेमी था और कवियों का आश्रयदाता था। इसी प्रकार उसका भतीजा भोज निकला जिसकी विद्याभिरुचि अभी तक विस्मृत नहीं हुई। भोज की रानी लीलावती भी बड़ी विदुषी थी। ये धारा नगरी (वर्तमान धार) में रहते थे।

वैरिसिंह परमार, रची धार असि-धार-बल।
बहा सरस्वति-धार, धरासार किय भोज ने॥
जो नहिं होतो भोज, कविन भोज देतो कवन।
कालिदास को भोज, को बढ़ावतो चतुर्दिग॥
कठिन गणित व्यवहार, लीला कौन बतावतो।
पति सम विदुषी नारि, जो न होति लीलावती॥
होते नहिं परमार, धार कीर्त्ति किमि फैलती।
धार बिना आधार, बढ़तो किमि परमार-यश॥
जहँ पवाँर तहँ धार, धार जहाँ परमार तहँ।
बिन पवाँर नहिं धार, धार बिना परमार नहिं॥

निमाड़ में परमारों का अधिकार तेरहवीं शताब्दी के आरंभ तक बना रहा, पश्चात् तोमरों और उसके पीछे चौहानों के हाथ चला गया।

मुसलमानी आक्रमण

सन् ११९१ ई० में जब अलाउद्दीन खिलजी दक्खिन की चढ़ाई से लौटा तो उसने असीरगढ़ को चौहानों के हाथ में पाया। उसने एक लड़के को छोड़कर सबको कत्ल कर डाला। यह युवा, जिसका नाम रायसी था, चित्तौड़ को भाग गया। इसके वंशज हरौती के राजा हैं। कहते हैं, चौहान फिर एक बार लौटे। पिपलौद के राना उन्हीं के वंशज हैं। ये बासीगढ़ में आकर रहे। इस किले का अब पता भी नहीं है। चौदहवीं शताब्दी में खेरला के राजा ने इस पर चढ़ाई की। कई वर्षों तक लड़ाई लगी रही, अंत में चौहान हारकर साजनी या पिपलौद जा बसे।

मालवा में मुसलमानों का अधिकार सन् १३१० ई० में जमा। सन् १३८७ ई० में दिल्लीश के सूबेदार दिलावरखाँ गोरी ने स्वतंत्र होकर अपनी राजधानी मांडू (मांडोगढ़) में जमाई और अपना अधिकार निमाड़ जिले में फैला लिया। इसी वंश में सुलतान होशंगशाह हुआ जिसने और आगे बढ़कर खेरला को जीत लिया। उस समय निमाड़ में जंगली लोग रहते थे; परंतु उनकी संख्या बहुत न थी। इसी कारण बहुत सी जमीन खाली पड़ी थी। इसमें राजपुताना के बहुत से ठाकुर आकर जिले के उत्तरी भाग में बस गए।

सन् ६४१ ई० में चीनी यात्री युवानच्वांग खजुराहो गया था। उसने लिखा है कि यहाँ का राजा ब्राह्मण है। इससे प्रकट होता है कि सातवीं शताब्दी में इस ओर ब्राह्मणों का राज्य था। उसी जमाने में पड़िहार भी बढ़े थे। ये कन्नौज के महाराजा हर्षवर्धन के मांडलिक थे। ब्राह्मणों का दौरदौरा हटा की ओर चाहे रहा हो, परंतु दमोह तहसील में—विशेषकर दक्षिण और पूर्व की ओर—पड़िहारों ने अपना सिलसिला जमाया था और ब्राह्मणराज के अस्त होने तथा चंदेलों के उदय होने पर भी वे सिंगोरगढ़ की ओर बहुत दिन तक राज्य करते रहे थे। सिंगोरगढ़ का किला गजसिंह नामक पड़िहार का बनवाया हुआ बताया जाता है। पड़िहार उचहरा के पास बहुत दिन से राज्य करते थे। उचहरा का पुराना नाम उच्चकल्प था। उच्चकल्प के महाराजा परिव्राजक महाराजाओं के समकालीन थे। उच्चकल्प के महाराजाओं ने अपने शासन मे अपने वर्ण-गोत्रादिक का परिचय नहीं दिया। उच्चकल्प महाराजा कलचुरियों के मांडलिक थे। कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी (जिला जबलपुर के तेवर गाँव) में थी। उनके बल से पड़िहार बहुत दिनों तक रुके रहे। जब कलचुरिये कमजोर हो गए तब पड़िहारों ने चंदेलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वे मुसलमानों के आगमकाल तक उनकी छाया में राज्य करते रहे। पड़िहारों का अंतिम राजा वामदेव था। उसका राज्य सन् १३०६ ई० में समाप्त हो गया।

पड़िहार

जान पड़ता है कि पड़िहार लोग पहिले कलचुरियों के मांडलिक थे और उन्होंने जबलपुर जिले की पश्चिमी सीमा पर सिंगोरगढ़ का किला बनवाया था। इस किले का प्राचीन नाम श्रीगौरिगढ़ बतलाते हैं। जब चंदेलों ने कलचुरियों पर आक्रमण किया तब पड़िहारों को उनके अधीन होना पड़ा। बहुतेरे सतीचौरे सन् ईसवी १३०० और १३०९ के बीच के मिले हैं। उनमें महाराजकुमार बाघदेव का राजत्वकाल लिखा है। दमोह जिले के बम्हनी ग्राम में एक पत्थर में लिखा है 'कालञ्जराधिपति श्रीमद् हम्मीर-वर्मदेव विजयराज्ये संवत् १३६५ समये महाराजपुत्र श्रीबाघदेव भुज्य-माने' जिससे स्पष्ट है कि बाघदेव हम्मीरवर्म के आधिपत्य में राज्य करता था। यह हम्मीर कालंजर का चंदेल राजा था। पाटन के सतीचौरे में लिखा है 'संवत् १३६१ समये प्रतिहार रा० श्री बाघदेव भुज्जमाने' जिससे स्पष्ट है कि बाघदेव चंदेल अथवा पड़िहार था और उसका राज्य सिंगोरगढ़, सलैया और पाटन की ओर फैला हुआ था। पहले सिंगोरगढ़ जबलपुर जिले ही में था। पीछे से दमोह में लगा दिया गया। चंदेलों ने दमोह के नोहटा और जबलपुर की बिलहरी में अपने कामदार रख दिए थे। वहाँ से वे दमोह और जबलपुर जिला के अंतर्गत चंदेल इलाके का शासन करते थे।

चदेल

चंदेलों को सन् १३०९ ई० में दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने राज्यच्युत कर दिया और अपना स्वामित्व जमा लिया। दमोह जिले के सलैया ग्राम के सतीचौरे में संवत् १३६७ पड़ा है और राजत्वकाल अला-उद्दीन का लिखा है। इस जिले में चंदेलों का इतना दौरदौरा रहा कि लोग किसी भी प्राचीन मंदिर को चंदेली राजा का कहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि चंदेलों के समय में शिल्पकारी की अच्छी उन्नति हुई और उन्होंने बहुत से सुंदर स्थान बनवाए, जिनमें खजुराहो के मंदिरों की समता उत्तर भारत के बिरले ही मंदिर कर सकेंगे। उनकी कारीगरी देखते ही बन आती है। ग्रंथकर्ता को उनको देखते ही तुलसीदास की विनयपत्रिका के पद का स्मरण आया और उसी के क्रम में यह पद बन गया—

भाई कहि न जाइ का कहिए।
देखत ही रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।
तल ते शिखर शिखर तें तल लों जहाँ जहाँ हम हेरे।
तिल भर ठौर दिखात कहूँ नहिं जहाँ न चित्र गढ़ेरे।
विश्वनिकाई मनहुँ दिखाई शिल्पकार उत्साहे।
चंदेलन की यश:-चंद्रिका छिटकाई खजुराहे।
विविध भाँति के चित्र भीति पर अनुपम ओज समेतू।
रुचिर सँवारि सुघर सदनन में थापे हरि वृषकेतू॥

कालगति से यह "चन्द्रात्रेयनरेन्द्राणां वंशश्चन्द्र इवोज्ज्वल:। खिलजीवंशशकेन्द्राणां अन्धेन तमसावृत: ॥" होकर अंत में इस जिले की ओर का राज्य 'गोंड़वंशभूमीन्द्राणां शीघ्रमेव करतलगत:' हो गया।

द्वादश अध्याय

मुसलमानों का प्रवेश

कुम्हारी इलाके के वीरान मौजा बढ़ैयाखेड़े के संवत् १३६७ के सतीलेख से स्पष्ट है कि उस समय सुल्तान अलाउद्दीन का अमल था।

तुगलक

यह दिल्लीशाह खिलजी घराने के तृतीय बादशाह अलाउद्दीन मुहम्मदशाह से अन्य नहीं हो सकता। बढ़ैयाखेड़े से चार मील पर बम्हनी गाँव में एक दूसरा सतीचौरा है। उसमें "कालञराधिपति श्रीमद् हम्मीरवर्मदेव विजयराज्ये संवत् १३६५ समयं महाराजपुत्र श्रीवाघदेव भुञ्जमाने अस्मिन् काले" लिखा है। इससे स्पष्ट है कि अलाउद्दीन का आधिपत्य सन् १३०८ और १३०६ ई० के बीच में हुआ। अलाउद्दीन ने दक्षिण की दूसरी चढ़ाई १३०६ में की थी। इससे स्पष्ट है कि उसी साल दमोह जिला या उसका भाग मुसलमानों के हस्तगत हुआ। अलाउद्दीन के अन्य वंशधरों का नाम अभी कहीं नहीं मिला परंतु खिलजियों के बाद तुगलकशाही घराने के बाद-

शाहों के राजत्व का जिक्र कई लेखों में पाया जाता है। तुगलक घराने का प्रथम बादशाह गयासुद्दीन था। उसके जमाने का एक फारसी शिलालेख बटियागढ़ में मिला है जिसमें उसका राजत्वकाल[१] स्पष्ट रूप से दर्ज है और हिजरी सन् ७२५ अंकित है, जो सन् १३२४ ई० में पड़ता है।

गयासुद्दीन तुगलक ने सन् १३२० से १३२५ तक राज्य किया। इसने अपने लड़के मुहम्मदशाह को सन् १३२९ ई० में चंदेरी, बदाऊँ और मालवा की फौजों के साथ तिलंगाना जीतने को भेजा था। इसी अवसर में जान पड़ता है कि तुगलकों का पाया इस जिले में दृढ़तर जम गया। बटियागढ़ में एक संस्कृत में लेख मिला है जिसमें संवत् १३८५ (सन् १३२८) पड़ा है और लिखा है कि सुलतान महमूद के समय जीव-जंतुओं के आश्रय के लिये एक गोमठ, एक बावली और एक बगीचा बनवाया गया। उस लेख में महमूद का जिक्र यों है—

"कलियुग में पृथ्वी का मालिक शकेंद्र (मुसलमान राजा) है जो योगिनीपुर (दिल्ली) में रहकर तमाम पृथ्वी का भोग करता है और जिसने समुद्र पर्यंत सब राजाओं को अपने वश में कर लिया है। उस शूरवीर सुलतान महमूद का कल्याण हो[२]।"

दमोह जिले में तुगलकों का राज्य कब तक स्थायी रहा, इसका प्रमाण कुछ नहीं मिलता। परंतु मालूम पड़ता है कि जिस समय मालवा के राजा ने दिल्ली से स्वतंत्र होकर चंदेरी पर चढ़ाई की और उसे अपने वश में कर लिया, तभी से दिल्ली का आधिपत्य दमोह से उठ गया।

१—"ब अहद शुद गयासुद्दीन व दुनिया बिनाई खैर मैमू गश्त मनसूब।"

२—"अस्तिकलियुगे राजा शकेंद्रो वसुधाधिपः।
योगिनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम्॥
सर्वसागरपर्यन्तं वशीचक्रे नराधिपान्।
महमूदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनंदतु॥"

पंद्रहवीं शताब्दी के आदि में दिल्ली की ओर से दिलावरखाँ गोरी मालवे का गवर्नर था। वही सन् १४०१ में स्वतंत्र शाह बन बैठा। इसका लड़का होशंगशाह प्रतापी निकला।

खिलजी

उसने कालपी तक धावा किया, परंतु चंदेरी में अपना सिलसिला जमाया या नहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता। होशंगशाह के मरने के दो साल पश्चात् मालवे का राज्य सन् १४३६ ईसवी में खिलजियों के अधिकार में पहुँचा। ये खिलजी उसी कौम के थे जिन्होंने दिल्ली में तीस साल (सन् १२९०-१३२०) राज्य किया था और जिनके तीसरे बादशाह ने पहले पहल दमोह में मुसलमानी राज्य की जड़ जमाई थी। मालवे का पहला खिलजी राजा महमूदशाह हुआ। फिरिश्ता के इतिहास से ज्ञात होता है कि सन् १४२८ ई० में चंदेरी को अपने ताबे कर लिया। इसलिये उसी साल से समझना चाहिए कि दमोह का संबंध दिल्ली के शाही घराने से टूट गया और दमोह नगर की बढ़ती का प्रारंभ हुआ, क्योंकि दिल्लीशाही जमाने में नयाबत का सदर मुकाम बटियागढ़ रखा गया था परंतु खिलजियों ने उसके बदले दमोह को मुकर्रर किया।

इस जिले में महमूदशाह खिलजी के समय का कोई चिह्न अभी तक तो नहीं मिला परंतु उसके लड़के गयासशाह के जमाने का एक फारसी शिलालेख दमोह में मौजूद है। उसमें लिखा है कि शहनशाह गयासुद्दुनिया बादशाह के खास खवास मुखलिस मुल्क ने दमोह किले के पश्चिमी दरवाजे की दीवाल सन् ८८५ हिजरी अर्थात् सन् १४८० ई० में बनवाई। गयासशाह सन् १४७५ ई० में तख्त पर बैठा था और सन् १५०० तक उसने राज्य किया। उस जमाने के कई सतीचौरों में भी उसका नाम दर्ज है। यथा, नरसिंहगढ़ के निकटस्थ एक चौरे में लिखा है कि किसी धनसुख की स्त्री संवत् १५४३ (सन् १४८६ ई०) में 'महाराजाधिराज श्री सुलतान गयासुद्दुनियाशाह विजयराज्ये माड़ोगढ़ विंध्यदुर्गे चंदेरी वर्तमाने' सती हुई थी। सतसूमा के पास एक दूसरे चौरे में नासिरशाह का नाम लिखा है और संवत् १५६२ पड़ा है। नासिर-

शाह गयासशाह का लड़का था और सन् १५०० ई० में तख्त पर बैठा था। इसका लड़का महमूदशाह द्वितीय था जिसके जमाने का सन् १६१७ में दमोह खास में एक लेख मिला था। उसमें लिखा है "संवत् १५७० वर्ष माघ बदी १३ सोमदिने महाराजाधिराज राज श्री सुलतान महमूदशाह बिन नासिरशाह राज्ये अस्सै (इसी) दमौव (दमोह) नगरे...दाम बिजाई व मड़वा व दाई व दर्जी ये रकमें" जो गाँव को मुक्ता में ले वह छोड़ दे। यह एक प्रकार का इश्तिहार है। जब यह लिखा गया था उस समय महमूद को तीन ही साल राज्य करते हुए थे। फिरिश्ता लिखता है, सुल्तान महमूद अन्य राजाओं की नीति के विपरीत अपनी तलवार के बल राज्य करना चाहता था। अंत में यह फल हुआ कि वह मारा गया और खिलजी घराने को राजत्व से हाथ धोना पड़ा। सन् १५३० ई० में गुजरात के राजा बहादुरशाह ने मालवे को अपने राज्य में मिला लिया।

त्रयोदश अध्याय

मुसलमानी जमाना—फारुकी, इमादशाही, बम्हनी

सन् १३७० ई० में फीरोज तुगलक ने अपने एक योद्धा मलिकखाँ फारुकी को करोंद और तालनेर के परगने बख्श दिए। उस समय वे दूसरों के अधिकार में थे। मलिकखाँ ने इनको जीत और लूटकर बादशाह को ऐसी अच्छी नजर भेजी जिससे उसने खुश होकर मलिकखाँ को खानदेश का सिपह-सालार बना दिया। इसने तालनेर के किले में अड्डा जमा लिया और कोई १२ हजार सवारों की सेना प्रस्तुत कर आसपास का मुल्क अपने अधीन कर लिया और मालवा के गोरियों के घराने में अपने लड़के का विवाह करके अपना पाया अधिक मजबूत बना लिया। सन् १३६६ में वह मर गया, तब उसका लड़का गजनीखाँ, नसीरखाँ नाम धारण कर, राजा बन बैठा। गुजरात के राजा ने उसे खान की पदवी से

फारुकी

विभूषित किया, इसी से उसके मुल्क का नाम खानदेश रखा गया। नसीरखाँ ने असीरगढ़ को जीत लिया और तासी के दोनों ओर दो नगर बसाए। उसने एक का नाम अपने धर्मगुरु जैनुद्दीन के नाम पर जैनाबाद और दूसरे का औलिया शेख बुर्हानुद्दीन के नाम पर बुर्हानपुर रखा। नसीरखाँ ने अपनी लड़की दक्षिण के बहमनी राजा को ब्याह दी, जिससे उसका पाया दृढ़ हो गया यद्यपि पीछे से झगड़ा उत्पन्न हुआ और उसने बरार पर चढ़ाई कर दी परंतु हार गया। तब बहमनी राजा ने बुर्हानपुर पर धावा किया। रोहनखेड़ में लड़ाई हुई, तब नसीरखाँ तैलंग के किले को भाग गया। बुर्हानपुर लूट लिया गया और नसीरखाँ का महल तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया गया। लूट में ७० हाथी और कुछ तोपखाना हाथ लगा। ये उस समय बेशकीमती समझे जाते थे।

नसीरखाँ १४३७ ई० में मर गया तब उसका लड़का मीरन आदिलखाँ उर्फ मीरनशाह राजा हुआ। वह चार ही वर्ष जिया।

मीरन आदिलखाँ और उसकी संतान

उसके पश्चात् उसका लड़का मीरन मुबारकखाँ उर्फ मुबारकशाह चौखंडी गद्दी पर बैठा। उसने सन् १४५७ ई० तक राज्य किया, परंतु इन दोनों के जमाने में कुछ विशेष बात नहीं हुई। मीरनशाह के मरने पर उसका लड़का मीरन गनी उर्फ आदिलखाँ, जिसको आदिलशाह आयना या अह-सानखाँ भी कहते थे, राजा हुआ। यह चैतन्य निकला और उसने गोंड़-वाने के कई राजाओं को अपने अधीन कर लिया और भील लुटेरों को दबा दिया। उसने असीरगढ़ किले को भी बढ़ाया। सामने का भाग, जो मलईगढ़ कहलाता है, इसी का बनवाया है। बुर्हानपुर में इसने सुघर महल और मस्जिद बनवाई और अपनी पदवी शाह-इ-झारखंड रखी और गुजरात के राजा को कर देना बंद कर दिया। इस पर गुजरात के राजा ने चढ़ाई कर दी, तब उसने असीरगढ़ के किले का आश्रय लिया। गुजरात के राजा ने उसका वहाँ भी पीछा न छोड़ा। अंत में उसको गुजरात के राजा की श[illegible] स्वीकार करनी पड़ी। आदिल-

शाह सन् १५०१ ई० में निस्संतान मर गया तब उसका भाई दाऊदखाँ गद्दी पर बैठा। इसने अहमदनगर के राजा पर चढ़ाई कर दी परंतु असीरगढ़ को लौटना पड़ा और मालवा के राजा से मदद माँगनी पड़ी, जिसका नतीजा यह हुआ कि उसे मांडू के राजा का स्वामित्व स्वीकार करना पड़ा। दाऊदखाँ सन् १५१० ई० में मर गया। वह बुर्हानपुर ही में दफनाया गया। इसके पूर्व उसके सभी पुरखे तालनेर में दफन किए गए थे। उसका लड़का गजनीखाँ गद्दी पर दो ही दिन बैठ पाया कि उसको जहर दे दिया गया। इस प्रकार मीरनशाह की शाखा में अब कोई वारिस न रहा।

आदिलशाह आजिमेहुमायूँ और उसकी शाखा

तब मीरनशाह के भाई कैसरखाँ का पोता आदिलखाँ उर्फ आदिलशाह आजिमेहुमायूँ राजा हुआ। आलमखाँ नामक एक दूर के संबंधी ने झगड़ा उठाया, परंतु वह निष्फल हुआ। आदिलशाह ने १० वर्ष राज्य किया। पश्चात् उसका लड़का मीरन मुहम्मद तख्त पर बैठा। गुजरात का राजा बहादुरशाह इसका मामा था। अपने मामा की सहायता से उसने मालवा पर चढ़ाई करके मांडू छीन लिया और वहीं से वह राज्य करने लगा। इतने में बहादुरशाह निस्संतान मर गया। इससे मीरन मुहम्मद का भाग्य एकदम चमक उठा। उसको गुजरात की गद्दी दी गई। वह गुजरात की राजधानी को रवाना हुआ, परंतु पहुँचने के पूर्व रास्ते ही में मर गया। तब उसका भाई मीरन मुबारक खानदेश का राजा हुआ। उसने शाह की पदवी धारण की, परंतु उसे गुजरात का राज्य नहीं मिला, क्योंकि वहाँ के अमीरों ने बहादुरशाह के भतीजे को अपना राजा बना लिया। मुबारकशाह ने १५६६ तक राज्य किया। सन् १५६१ ई० में मालवा के राजा बाजबहादुर ने मुगलों द्वारा राज्यच्युत होने पर बुर्हानपुर का आश्रय लिया, तब मुगलों ने बुर्हानपुर को आ घेरा और लूट लिया, परंतु जब मुगल-फौज घर को लौटी तब मालवा, खानदेश और बरार के राजाओं ने मिलकर उसे नर्मदा के किनारे घेरकर काट डाला। परंतु फारुकी वंश के

पतन का प्रारंभ यहीं से शुरू हो गया। मुबारकशाह के मरने पर उसका लड़का मीरन मुहम्मद खाँ गद्दी पर बैठा। इसने भी गुजरात का तख्त हासिल करने का प्रयत्न किया और व्यर्थ प्रयास में वह अपने सारे हाथी, तोपखाना व अन्य सामान खो बैठा। उल्टे खानदेश पर चढ़ाई हुई और सारा मुल्क लूट लिया गया। शीघ्र ही अहमदनगरवालों ने भी चढ़ाई कर दी और बुर्हानपुर को घेर लिया, तब मीरन मुहम्मद असीरगढ़ में जा छिपा। वह किला भी घेर लिया गया। अंत में चार लाख रुपया देने पड़े तब कहीं छुटकारा मिला। मीरन मुहम्मद सन् १५७६ में मर गया तब उसका भाई राजा अलीखाँ उर्फ आदिलशाह गद्दी पर बैठा। इसी ने बुर्हानपुर की जुम्मा मस्जिद बनवाई जिसमें अरबी और फारसी के लेखों के सिवा एक संस्कृत का लेख है। उसमें फारुकियों की वंशावली लिखी है और मस्जिद के पूरे होने की तिथि विक्रम, शक और हिजरी संवतों में दी है जो ५ जनवरी सन् १५९० ई० में पड़ती है। आदिलशाह ने मुगलों का स्वामित्व स्वीकार कर शाह की पदवी निकाल डाली और वह दक्खिन की चढ़ाइयों में उनकी मदद करने लगा। इन्हीं में उसकी मृत्यु सन् १५९६ ई० में हुई। तब उसका लड़का खिज्रखाँ उर्फ बहादुरशाह राजा हुआ। यह फारुकियों का अंतिम राजा था। उसकी मृत्यु सन् १६०० ई० में हुई। इस प्रकार मलिकखाँ के वंशधरों में एक दर्जन व्यक्तियों ने गद्दी पर बैठकर २०० वर्षों में अपनी राज्य-लीला समाप्त कर दी।

बहादुरशाह अपने बाप की नाईं दूरदर्शी न था। उसने अक-बर से वैर कर लिया और अपने बचाव के लिये असीरगढ़ में ऐसा प्रबंध किया कि उसमें दस साल तक घिरे रहने पर भी बाहर से किसी वस्तु के लाने की आवश्यकता न पड़े।

यह सुनकर अकबर ने स्वयं चढ़ाई कर दी और असीरगढ़ को घेर लिया। परंतु घेरे रहने से होता क्या था। किला ऐसा अटूट था कि न उस पर धावा हो सकता था और न सुरंग लगाई जा सकती थी। घेरा डालकर भी किले को फतह न करने से अकबर की बड़ी

बदनामी होती। इससे उसको इसे लेने की बात लग गई परंतु कुछ उपाय नहीं चलता था। उसने किले के सब रास्ते बंद करवा दिए और बुर्हानपुर पर धावा करके राज-महलों में डेरा डाल दिया। फिर असीरगढ़ लौटकर रात-दिन तोपों की मार शुरू की। यह महीने भर तक होता रहा, तब बहादुरशाह को सुलह करने की कुछ सूझी। उसने अपनी माँ और लड़के को अकबर के पास इसी अभिप्राय से भेजा, परंतु अकबर ने कहा कि हम सुलह तब करेंगे जब बहादुरशाह पूर्ण रूप से हमारी शरण आवे। इसके लिये बहादुरशाह तैयार नहीं था। इधर अकबर ने अपनी तोपें बंद नहीं कीं—धूमधड़ाका जारी रखा। तीन महीने इसी तरह बीत गए। इतने में खबर मिली कि मुगलों ने अहमदनगर तोड़ लिया, इससे बहादुरशाह के दिल को धक्का लगा। उधर शाहजादा सलीम अपने बाप से बागी हो गया, इसलिये अब दोनों ओर से निपटारा करने की कुछ इच्छा उत्पन्न हुई।

अकबर और असीरगढ़

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि खानदेश की रीति के अनुसार असीरगढ़ में राजकुल के नजदीकी संबंधियों के सात लड़के काम पड़ने पर गद्दी पर बैठने के लिये तैयार रखे जाते थे। उनको किले के बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। केवल वही बाहर जा सकता था जिसको राजगद्दी मिल जाती थी। बहादुरशाह को भी इस प्रकार इस किले में समय बिताना पड़ा था। अकबरी मोरचे के समय असीरगढ़ का किलेदार एक हब्शी जवान था। वह बड़ा नमकहलाल था, और अकबर की दो लाख फौज का सामना कर रहा था। उसके प्रबंध से मुगलों की तोपों और छापों का किले पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। यह देख अकबर ने अब सिंह का वेष त्यागकर लोमड़ी का परिधान ग्रहण किया और छल से काम निकालना चाहा। उसने बहादुरशाह को किले के बाहर आकर मुलाकात करने का निमंत्रण दिया और सुरक्षित लौटा देने के लिये सिरेपादशाह की कसम खाई। बहादुरशाह ने विश्वास कर लिया। वह किले से बाहर निकलकर हाजिर हो गया। उसने गले में रूमाल डालकर नम्रतापूर्वक बादशाह को तीन बार सलाम किया,

परंतु एक मुगल-सरदार ने पीछे से पकड़कर उसे धरती पर दे मारा और कहा कि सिजदा अर्थात् साष्टांग दंडवत् करो। इस उद्दंडता पर अकबर ने कुछ ऐसी ही ऊपर से नाराजी दिखलाकर बहादुरशाह से कहा कि तुम किलेदारों को इसी वक्त हुक्म लिख दो कि किला हमको सौंप दें। बहादुरशाह ने इसे स्वीकार न किया और बिदा माँगी। परंतु वह जबरदस्ती रोक लिया गया। अकबर ने अपनी कसम की कुछ परवा न की।

किलेदार ने जब यह सुना तब उसने अपने लड़के मुकर्रिबखाँ को, प्रणभंग का विरोध करने के लिये, भेजा। अकबर ने पूछा—क्या तुम्हारा बाप किला सौंपने को तैयार है? इस नवयुवक ने मुँहतोड़ जवाब दिया "बादशाह सलामत! सौंपने की बात तो दूर रही, मेरा बाप आपसे बात करने तक को राजी न होगा। अगर आप हमारे शाह को न छोड़ेंगे तो उनकी जगह के लिये सात शाहजादे तैयार हैं। कुछ भी हो, किला आपको कभी न सौंपा जायगा।" इस उत्तर से बादशाह को इतना गुस्सा आया कि उसने उस दूत को फौरन कत्ल करवा दिया। तब मुकर्रिबखाँ के बाप ने अंतिम संदेशा भिजवाया कि मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे ऐसे बेईमान बादशाह का मुँह कभी देखना न पड़े। फिर रूमाल हाथ में लेकर वह किले के अफसरों और सिपाहियों से बोला "भाइयो! जाड़ा आ रहा है, मुगल फौज ठिठुर कर मर जाने के डर से जल्दी ही वापस चली जायगी। किसी इन्सान की ताकत नहीं कि वह इस किले को धावा या छापा मारकर ले ले। खुदा भले ही ले ले मगर जब तक इसकी हिफाजत करनेवाले धोखा न दें तब तक कोई नहीं ले सकता। ईमानदारी ही इज्जत की बात है, इसलिये आप लोग जोश के साथ किले को बचावें। मेरी जिंदगी अब हो चुकी, मैं उस बेईमान बादशाह का मुँह देखना नहीं चाहता।" इतना कहकर उसने अपने रूमाल को गाँठ लगाकर गले में डाल लिया और फंदा खींच कर प्राण दे दिए। वाह रे हब्शी! इतिहास तेरा नाम तक नहीं जानता, परंतु तू अमर है।

अब अकबर की आँखें खुलीं, क्योंकि छल से भी सफलता न हुई। हजार प्रयत्न करने पर भी किला टूटता ही नहीं था, उधर अपने ही शाहजादे के बिगड़ पड़ने से सल्तनत को भारी धक्का पहुँचने का अंदेशा था। तब उसने सोचा कि अब एक ही उपाय बचा है। वह यह कि रिश्वत से काम लिया जाय। उसने किले के बड़े बड़े सरदारों को सोने और चाँदी से पूर दिया। इन्होंने असीरगढ़ के सात शाहजादों में से किसी को भी गद्दी पर बैठने न दिया और अकबर को किला सौंप देने का प्रबंध किया। इस प्रकार कोई साढ़े दस महीने घिरे रहने के बाद १७ जनवरी सन् १६०१ ई० को असीरगढ़ अकबर के हवाले किया गया। जब दरवाजे खुले तब भीतर बहुत से लोग पाए गए और खाने-पीने का बहुत सा सामान जमा मिला। बहादुरशाह ग्वालियर के किले में और सातों शाहजादे अन्य किलों में कैद रखने के लिये भेज दिए गए। अकबर की बेईमानी छिपाने के लिये अबुलफजल और फरिश्ता सरीखे इतिहासकारों ने लिख मारा है कि असीरगढ़ के किले में जानवरों के मरने से रोग पैदा हुआ। बहादुरशाह ने इसे अकबर का जादू समझा और किले की रक्षा का प्रबंध न करके उसे बादशाह के हवाले कर दिया, परंतु अब सिद्ध हो चुका है कि यह बात बनावटी थी।

असीरगढ़ में अकबर ने अपने लड़के दानियाल को सूबेदार नियुक्त किया और उसके नाम पर खानदेश का नाम दानदेश कर दिया।

मुगल-शासन

दानियाल को शराब पीने की लत लग गई और वह सन् १६०५ ई० में बुर्हानपुर में मर गया। उस समय लुटेरों का बड़ा जोर था, परंतु मुगलों ने उनके दमन का अच्छा प्रबंध किया जिससे उत्तरी हिंदुस्तान, गुजरात और दक्खिन के बहुत लोग इस जिले में आकर बस गए। सन् १६१४ ई० में इँगलैंड का राजदूत सर टामस रो बुर्हानपुर में ठहरा था। उसने इस शहर का वर्णन लिखा है। वह जहाँगीर का जमाना था। बुर्हानपुर ही के निकट जहाँगीर और उसके लड़के शाहजहाँ का युद्ध हुआ था जिसमें शाहजहाँ पराजित हुआ। जहाँगीर की सेना का नायक रायसी

चौहान का वंशज हरौती का राव रतन था। जीत की खुशी में वह बुर्हानपुर का सूबेदार बना दिया गया। पीछे से वह एक लड़ाई में मारा गया। बुर्हानपुर में उसकी एक सुंदर छतरी बनी है। निमाड़ जिले की विशेष वृद्धि शाहजहाँ के समय में हुई। उस समय बुर्हानपुर का बना हुआ कलाबत्तू विलायत को जाने लगा था। उसी जमाने में पानी के नल लगाए गए थे जो अभी तक काम दे रहे हैं। सन् १६७० से मरहठों ने लूटना आरंभ किया और कई पटेलों से चौथ लेना शुरू किया। सन् १६८४ ई० में औरंगजेब ने बुर्हानपुर में मुकाम किया। उसके जाने के पश्चात् लुटेरों ने लूट मचाई। सन् १७०५ ई० में फिर लूट हुई, तब से वहाँ मुगल सेना रहने लगी।

चतुर्दश अध्याय

गोंड़

गोंड़-वंशोत्पत्ति

किंवदंती के अनुसार गोंड़ों का आदि राजा जादोराय था। वह गोदावरी से २० कोस उस पार सहल गाँव के पटेल का लड़का था। वह सिपाहगिरी करने को घर से निकला और चलता-चलता गढ़ा में आ पहुँचा। उस समय गढ़ा का राजा नागदेव था। उसके कोई पुत्र नहीं था। राजा ने राज्याधिकारियों से सलाह ली कि गद्दी का अधिकारी कौन बनाया जाय। उन्होंने कहा कि इस बात को ईश्वरेच्छा पर छोड़ दीजिए; नर्मदा के किनारे लोगों को जमा करके एक नीलकंठ छोड़ा जाय। वह जिसके सिर पर बैठ जाय उसे समझिए कि दैव राजा बनाना चाहता है। ऐसा ही किया गया। नीलकंठ जादोराय के सिर पर बैठ गया। राजा ने उसे अपना उत्तराधिकारी बना लिया और अपनी कन्या रत्नावली उसे ब्याह दी।

गढ़ा-राज्य के वंशज दमोह के सिलापरी गाँव के मालगुजार हैं। उनके कथनानुसार कटंगा-निवासी सकतू गोंड़ का पोता धारूसाह प्रथम

राजा हुआ। सकतू की कुमारी लड़की गवरी से एक नाग ने नर-देह धारण कर समागम किया, तब धारूसाह पैदा हुआ और नागराज के वर से उसको राजत्व प्राप्त हुआ। किंतु सिलापरी के वंशवृक्ष में आदि-पुरुष जादोराय ही बतलाया गया है और उसका निवास-स्थान महोड़खेड़ा लिखा है। जादोराय के बाप का नाम भोजसिंह और निवास-स्थान मोठाकट गाँव लिखा है परंतु ये ग्राम कहाँ हैं, इसका कुछ पता नहीं दिया गया। इन दोनों कथाओं से यही झलकता है कि गढ़ा का राजवंश किसी विदेशी आगंतुक की संतान है जिसने किसी स्थानीय दरिद्र गोंड़िनी से विवाह कर लिया और उसकी संतति को, कलचुरियों की क्षीणावस्था में, किसी प्रकार अधिकार प्राप्त हो गया। संभव है कि आंध्रविजय के समय कोई जादोराय नामी सरदार आया हो और गढ़ा के उचक्के प्रथम राजा ने, कुलीनता स्थापित करने के लिये, उसे अपना मूल पुरुष स्थिर कर लिया हो और उसके और अपने बीच का काल भरने के लिये यथावश्यक नाम बना या बनवा लिए हों। जाँच करने से तो नामावली नकली जान पड़ती है। परंतु राजा हिरदयशाह ने अपने को ५२वीं पीढ़ी में रखकर उसे श्लोकबद्ध कराया और पत्थर पर खुदा कर चिरस्थायी कर दिया है।

यथार्थ मूल

ऐतिहासिक दृष्टि से इस नामावली के प्रथम ३३ नाम प्रायः सभी कल्पित जान पड़ते हैं। ३४वीं पीढ़ी में मदनसिंह का नाम आता है और ४८वीं मे संग्रामशाह का। संग्रामशाह वास्तव मे ऐतिहासिक पुरुष है। इसने अपने नाम की सोने की पुतलियाँ चलाई थी, जो कुछ दिन हुए गढ़े ही में एक दफीने में मिली थीं। उनमे संग्रामशाह का नाम और संवत् १५७० अर्थात् १५१३ ई० पड़ा है। इसी संवत् का दमोह जिले के ठर्रका ग्राम में एक शिलालेख है। उसमें उसका नाम खुदा है। ठर्रका के लेख में संग्रामशाह का नाम आमणदास देव लिखा है। उसका यही नाम मुसलमानी तवारीखों में पाया जाता है। मदन-सिंह और संग्रामशाह के बीच १४ पीढ़ियों का अंतर है। प्रति पीढ़ी के

लिये २० वर्ष की औसत लेने से २८० वर्ष का अंतर बैठता है। अन्य सिद्धांतों से संग्रामशाह का राजत्वकाल सन् १४८० ई० से १५३० तक ठहराया गया है। यदि १४८० ईसवी में से २८० वर्ष घटाए जायँ तो १२०० ई० का काल आता है जो कलचुरियों के अंत और गोंड़ों के उदय का समय है। इससे यही अनुमान होता है कि गोंड़वंश का मूलपुरुष मदनसिंह था जिसने अपने नाम पर अनगढ़ चट्टानों पर महल बनवाया जो आज तक मदन-महल कहलाता है और मध्य प्रदेश के प्रेक्षणीय स्थानों मे गिना जाता है। महल बहुत बड़ा नहीं है, पर्वत-निवासियों के योग्य ही है और पूर्ण रूप से उनकी अभिरुचि का दर्शक है। कदाचित् ऐसा स्थान महलायत के लिये पार्वतीय लोगों के सिवा और किसी को सूझ भी न पड़ता। क्या जाने, मदनसिंह के उत्तराधिकारी इस महल में रहते थे या नहीं परंतु संग्रामशाह ने उसका जीर्णोद्धार कराया और उसमें जाकर वह रहा भी। मदन-संग्राम-मध्यस्थ केवल १३ राजाओं के नाम मात्र प्राप्त हैं। उनके शासन या कर्तव्य का कोई लेख या वार्ता प्राप्य नहीं है। मदनसिंह का पुत्र उग्रसेन था। उसका पुत्र रामसिंह और उसका ताराचन्द्र (किसी-किसी के अनुसार रामकृष्ण) हुआ। उसका उदयसिंह, उसका मानसिंह, उसका भवानीदास, उसका शिवसिंह, उसका हरनारायण, उसका सबलसिंह, उसका राजसिंह और उसका दादीराय हुआ। दादीराय का पुत्र गोरखदास, उसका अर्जुनदास और उसका आम्हणदास अथवा अमानदास हुआ। इसी अमानदास ने पीछे से संग्रामशाह की पदवी धारण की और मूल नाम का उपयोग ही करना छोड़ दिया। बैतूल जिले के बानूर ग्राम में एक ताम्रपत्र संवत् १४२७ का मिला था। उसमें लिखा था कि प्रौढ़प्रताप चक्रवर्ती महाराजाधिराज अचलदास ने दो कुओं का उद्यापन करके जनार्दन उपाध्याय को आमादह ग्राम दान में दिया। यह ग्राम बानूर से ४ मील पर अब भी विद्यमान है। मध्य प्रदेश के इतिहास में अचलदास राजा का कोई पता नहीं चलता। ताम्रपत्रों में बहुधा दान देनेवाले के वंश का वर्णन रहता है, परंतु इस ताम्रपत्र में मानो

वह जान बूझ कर नहीं लिखा गया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अचलदास किसी ऐसे वंश का था जिसके उल्लेख से महत्त्व के बदले हीनता देख पड़ती। अचलदास का समय राजसिंह या दादीराय के जमाने में पड़ता है। बैतूल जंगली जिला और आरंभ से गोंड़ों का निवास-स्थान रहा है। वहाँ गोंड़ों का राज्य होना असंगत नहीं है। इससे कल्पना हो सकती है कि अचलदास ही इन दोनों में से किसी का मूल नाम रहा हो। दादी या दादू लाड़ के शब्द हैं। दादीराय के लड़के, पोते, पड़पोते सभी के नामों के अंत में दास लगा है, इससे उसका नाम दासांतक होना संभव है। कदाचित् दादीराय और अचलदास एक ही व्यक्ति हों। यदि ऐसा ही हो तो अचलदास की विरुद से सिद्ध होगा कि गोंड़ निवासांचल में छोटे मोटे राजा उसके अधीन थे। उसकी बराबरी वाला दूसरा राजा नहीं था। इससे मानना पड़ेगा कि गोंड़ों ने १४वीं शताब्दी के चतुर्थ पाद में अपने राज्य की नींव अच्छी जमा ली थी। दादीराय के पुत्र गोरखदास ने जबलपुर के निकटस्थ गोरखपुर बसाया। उसके लड़के अर्जुनदास की कीर्ति का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है।

संग्रामशाह

बता चुके हैं कि संग्रामशाह अर्जुनदास का लड़का था। उसका असली नाम अमानदास या आम्हणदास था। बाल्यावस्था में वह बड़ा नटखट और क्रूर था। बाप ने कई बार उसे शिक्षा दी; बंद करके रखा और सौगंदें कराईं कि अब कभी कुचाल न चलेगा, परंतु इससे होता क्या था? संग्रामशाह ने अपनी चाल न छोड़ी। एक बार वह कुछ गड़बड़ करके डर के मारे बघेलखंड के राजा वीरसिंहदेव के पास भाग गया। इससे अर्जुनदास ने उसे युवराजत्व से च्युत कर दिया। जब उसको यह खबर मिली तब वह तुरंत वापिस आया और षड्यंत्र रचकर उसने अपने बाप ही को मार डाला और स्वयं गद्दी पर बैठ गया।[१] जब वीरसिंहदेव ने सुना कि अमान-

१—वीरसिंहदेव संवत् १५६२ में गद्दी पर बैठा था और संग्रामशाह का समय संवत् १५३७—१५६६ माना जाता है। यदि उक्त दोनों संवत् ठीक हैं तो यह

दास ने पितृ-हत्या की है, तब उसने गढ़े पर चढ़ाई कर दी; परंतु अमानदास सामना न करके दस-पाँच आदमियों के साथ वीरसिंहदेव के पास आ खड़ा हुआ और उसने रो-गाकर उसको मना लिया। अमानदास की बालचाल बाल्यकाल के साथ गई। जब उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली, तब उसने अपने राज्य की वह वृद्धि की, जो उसके पूर्वजों ने सोची तक न थी, और जिसको उसके पश्चात् उसकी संतति कभी लाँघ न सकी। उसके पोते के पोते हिरदयशाह की शिलांकित वंशप्रशस्ति में सगर्व उल्लेख किया गया है कि संग्रामशाह ने समग्र पृथ्वी जीत ली थी और ५२ गढ़ स्थापित किए थे*।

गोंड़ों में तो एक कहावत हो गई है कि 'आमन बुध बावन में'। बपौती में अमान को तीन-चार गढ़ मिले थे, शेष उसके निज

घटना निराधार हो जाती है। किंतु एक लेखक ने लिखा है कि बघेलखंड के प्रसिद्ध वीरसिंहदेव का समय १५५७ वि० से १५६७ वि० तक है। वास्तव में बाघेश (बघेलखंड) वीरसिंहदेव और ओरछाधिप (बुंदेलखंड) वीरसिंहदेव दो विभिन्न नृपति हैं। अतः वर्णित घटना में समय की विषमता नहीं आती।—सं०

* बावनगढ़ ये थे—१ गढ़ा, २ मारूगढ़, ३ पचेलगढ़, ४ सिंगोरगढ़, ५ अमोदा, ६ कनोजा, ७ बगसरा, ८ टीपागढ़, ९ रामगढ़, १० परतापगढ़, ११ अमरगढ़, १२ देवगढ़, १३ पाटनगढ़, १४ फतहपुर, १५ निमुआगढ़, १६ भँवरगढ़, १७ बरगी, १८ धुनसौर, १९ चाँवड़ी (सिवनी), २० डोंगरताल, २१ कोरवा (करवा) गढ़, २२ झंझनगढ़, २३ लाफागढ़, २४ सौंटागढ़, २५ दियागढ़, २६ बाकागढ़, २७ पवईकरहिया, २८ शाहनगर, २९ धामोनी, ३० हटा, ३१ मडियादो, ३२ गढ़ाकोटा, ३३ शाहगढ़, ३४ गढ़पहरा, ३५ दमोह, ३६ (रहली) रानगिर, ३७ इटावा, ३८ खिमलासा (खुरई), ३९ गढ़गुन्नौर, ४० बारीगढ़, ४१ चौकीगढ़, ४२ राहतगढ़, ४३ मकड़ाई, ४४ कारोबाग (कारूबाघ), ४५ कुरवाई, ४६ रायसेन, ४७ भौंरासो, ४८ भोपाल, ४९ उपतगढ़, ५० पनागर, ५१ देवरी, ५२ गौरझामर। ये गढ़ सागर, दमोह, जबलपुर, सिवनी, मंडला, नरसिंहपुर, छिंदवाड़ा, नागपुर, होशंगाबाद और बिलासपुर तक फैले हुए थे। इनमें से अब कितने ही स्थान इस समय उजाड़ हैं।

भुजोपार्जित थे। उसने जो संग्रामशाह की पदवी धारण की उसका वह पूर्ण रूप से पात्र था। मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि यह नाम वीरसिंहदेव ने सन् १५२६ ई० में रखाया था, जब अमानदास ने गुजरात के बहादुरशाह की लड़ाई में वीरसिंहदेव को सहायता दी थी। यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि आमणदास के सन् १५२६ ई० के पूर्व के सिक्कों में संग्रामशाह नाम अंकित है। स्थानीय लेखों से ज्ञात होता है कि उसने संवत् १५४१ (सन् १४८४ ई०) में यह पदवी धारण की। जब उसकी सेना मांडौगढ़ के सुलतान से हार गई और गढ़ा शत्रु के हाथ में चला गया तब उसने स्वयं आकर केवल एक सहस्र सवारों की सहायता से शत्रुदल को तितर-बितर कर सुलतान के निशान इत्यादि छीन लिए। संग्रामशाह ने गढ़ा के आस-पास कई तालाब, मंदिर, मठ इत्यादि बनवाए और जीर्ण स्थानों की मरम्मत करवाई, नवीन ग्राम बसाए तथा अन्य प्रांत के लोगों को अपने ग्रामों में बसने के लिये उत्साहित किया। गढ़ा का संग्रामसागर तालाब उसी का बनवाया है। वहीं पर भैरव का एक बाजना मठ है। संग्रामशाह के इष्टदेव भैरव ही थे। एक तांत्रिक ने आकर उन्हीं भैरवजी को संग्राम-शाह की बलि देने का मंसूबा किया। परंतु राजा ऐन वक्त पर ताड़ गया और उसने तांत्रिक ही का बलिदान कर डाला। उसने मदनमहल और सिंगोरगढ़ की मरम्मत करवाई और एक गाँव, अपने नाम पर, पिछले गढ़ के पास बसा दिया। वह अब भी संग्रामपुर कहलाता है। चौरा-

स्लीमन के लेखानुसार हरएक बड़े गढ़ में ७५० गाँव थे। केवल अमोदा में ७६० थे; छोटों में ३५० या ३६० थे। ३५० वाले नंबर ४,१२,२४,२५,४६ और ३६० वाले नंबर १३,१६,१६,३१,३२,३४,३६,४१,४२,४८ हैं। ग्रामसंख्या का योग ३५६८० है। परंतु अबुलफजल ने ८०,००० लिखा है। यदि हरएक गढ़ में डेढ़ डेढ़ हजार गाँव रहे हों तो अवश्य आइने अकबरी की संख्या शुद्ध समझी जा सकती है। वर्तमान जबलपुर जिला संग्रामशाह के कई गढ़ों के विभागों से बना है; यथा—गढा, पचेलगढ़, अमोदा, कनौजा, पाटनगढ़, दियागढ़ और बरगी।

गढ़ का किला भी इसी ने बनवाया और अपने नाम के सिक्के चलाए। इसके सुवर्ण-सिक्कों पर एक विशेषता पाई जाती है। वह यह कि उन पर न केवल हिंदी में ही नाम लिखा वरन तिलंगी में भी खोदवा दिया है। यह उसके मातृ-भूमि के स्नेह का सूचक है।

संग्रामशाह ने ५० वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् उसका लड़का दलपतिशाह राजा हुआ। उसने सिंगौरगढ़ में रहना पसंद किया।

दलपतिशाह का विवाह महोबे के चंदेल राजा की रूपवती कन्या दुर्गावती से हुआ था। दुर्गावती ने अपना सौभाग्य चार ही वर्ष भोग पाया था कि दलपतिशाह चल बसा।

दुर्गावती

रानी ने अपने नाबालिग पुत्र वीरनारायण की ओर से राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली और १५ वर्ष तक बड़ी योग्यता के साथ शासन किया। उसने प्रजा के हितार्थ अनेक उपयोगी काम बनवाए और अपने राज्य में अमन-चैन फैलाया। इस वृद्धि को देखकर कड़ा-मानिकपुर के नवाब आसिफखाँ का जी ललचाया और उसने इस विधवा से राज्य छीन लेने का विचार किया। बहाना ढूँढ़ने को कुछ देर न लगी।

कहते हैं, दुर्गावती रानी को अकबर बादशाह की ओर से एक सोने का रहँटा (चरखा) इस अर्थ से नजर किया गया कि स्त्रियों का काम चरखा चलाना है, राज्य करना नहीं। इसके प्रत्युत्तर में रानी ने एक सोने का पींजन बनवाकर भिजवा दिया, मानो यह कहला भेजा कि यदि मेरा काम चरखा चलाना है तो तुम्हारा पींजन से रुई धुनकना है। इस पर बादशाह बहुत नाराज हो गया। कुछ लोग कहते हैं कि दुर्गावती के पास एक श्वेत हाथी था। वह अकबर बादशाह ने अपने लिये माँगा। रानी ने इनकार किया। इस बात पर वह नाराज हो गया और आसिफखाँ को चढ़ाई करने का हुक्म दे दिया। चरखा और पींजन का किस्सा तो किस्सा ही मालूम पड़ता है, परंतु चढ़ाई अवश्य की गई। उस जमाने में लड़ाई करने के लिये कोई कारण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। बाहुबल ही उचित कारण समझा जाता

था। अंत में आसिफखाँ सन् १५६४ ई० में ६ हजार सवार और १२ हजार पैदल सिपाही लेकर सिंगौरगढ़ पर चढ़ आया। दुर्गावती ने तुरंत सामना किया, परंतु उसकी सेना तैयार नहीं थी, वह शिक्षित सिपाहियों के सामने नहीं ठहर सकी। किले में घिर जाने के बदले रानी ने गढ़ा जाकर लड़ाई करने का विचार किया, परंतु शत्रु उसके पीछे हो लिए और उसे गढ़ा में प्रबंध करने का मौका नहीं दिया। तब रानी ने मंडला की ओर कूच किया और १२ मील चलकर घाटियों के बीच एक सँकरी जगह पाकर वहाँ पर मोरचा जमाया और लड़ाई ली। शत्रुओं के आक्रमण करते ही गोंड़ों ने ऐसी मार मारी कि उनके पैर उखड़ गए। गोंड़ लोग केवल तीर-कमान और बरछी-तलवार ही से लड़ते थे। उनके पास तोपें नहीं थीं। आसिफखाँ के पास तोपखाना था। किंतु घाटी की लड़ाई में वह वक्त पर पहुँच नहीं पाया था, इसलिये पहले दिन उभय पक्ष के समान अस्त्र-शस्त्र द्वारा युद्ध हुआ। दूसरे दिन रानी हाथी पर सवार होकर, घाटी के मुख पर, लड़ने के लिये स्वयं उपस्थित हुई। उसकी सेना जी-तोड़कर लड़ने के लिये खड़ी थी और इसमें संदेह नहीं कि उस दिन वह शत्रुओं को मटियामेट कर डालती, परंतु आसिफखाँ के भाग्य से ऐन वक्त पर तोपखाना आ पहुँचा। फिर क्या था, एक ओर से तोपों की मार, और दूसरी ओर से तीरों की बौछार होने लगी। विषम शस्त्रों से बराबरी क्योंकर हो सकती। इतने पर भी रानी तनिक भी न डरी, वह अपने हाथी पर से बाण-वर्षा करती रही। इतने में एक तीर आकर उसकी आँख में लगा और जब उसने उसे खींचकर फेंक देना चाहा तो उसकी नोक टूटकर आँख के भीतर ही रह गई। इतना बड़ा कष्ट होने पर भी रानी ने पीछे हटने से इनकार किया। गोंड़ फौज के पीछे एक छोटी सी नदी थी। वह युद्धारंभ के पूर्व सूखी पड़ी थी; परंतु इस दिन के शुरू होते ही उसमें अकस्मात् इतनी बाढ़ आ गई कि उसको हाथी भी पार नहीं कर सकता था। दोनों ओर से फौज का मरण दिखता था। आगे से तोपें, पीछे से पानी का प्रवाह! फिर भी इस दृढ़-संकल्प नारी का मन बिलकुल न डिगा। उसके महावत ने प्रार्थना की कि हुक्म हो तो मैं किसी

तरह हाथी को नदी के पार ले चलूँ। परंतु वीर नारी दुर्गावती दुर्गा ही थी। उसने उत्तर दिया कि नहीं, मैं या तो शत्रु को मार हटाऊँगी या वहीं मर जाऊँगी। इतने में ही एक दूसरा बाण उसके गले पर गिरा। सेना में किसी ने यह खबर फैला दी कि कुमार वीरनारायण को वीरगति प्राप्त हो गई। तोपों की मार, पानी की बाढ़, कुमार की मृत्यु और रानी की घायल दशा देख गोंड़-सेना अधीर होकर तितर-बितर होने लगी। इसी समय शत्रुओं ने बढ़कर रानी को चारों ओर से घेरना चाहा। जब रानी ने देखा कि अब बचने की आशा नहीं है, तब उस धीरा वीरा ने अपने महावत के हाथ से कटार छीनकर वीर-गति का अवलंबन किया। बरेला के निकट जिस स्थान पर रानी हाथी से गिरी थी वहाँ पर एक चबूतरा बना दिया गया है। जो कोई वहाँ से निकलता है, श्वेत पत्थर उठा कर उस चबूतरे के निकट अर्घ्यरूप डाल देता है, मानो उस वीर नारी की धवल कीर्ति का स्मरण कराता है।

आसिफखाँ ने वहाँ से चलकर चौरागढ़ पर धावा किया और रानी का सब माल लूट लिया और आग लगाकर उसे विध्वंस कर डाला। अवसर पाकर आसिफखाँ ने स्वतंत्र राजा बन जाना चाहा, इसलिये गढ़े में कुछ दिन ठहरकर वह सिलसिला जमाता रहा, परंतु ठीक न जम पाया। अंत में उसने इस विद्रोह के लिये अकबर से क्षमा माँग ली और वह अपने पुराने स्थान को लौट गया।

अकबर ने गढ़ा का राज्य अपनी सल्तनत में शामिल कर लिया परंतु गोंड़ घराने को कायम रखा। वीरनारायण अपनी वीर माता के साथ वीरभूमि में वीरलीला दिखलाकर वीरलोक को गमन कर गया था, इसलिये अकबर ने दलपतिशाह के भाई चंद्रशाह से १० गढ़ नजर लेकर उसको गढ़े की गद्दी पर बिठा दिया। इस प्रकार गोंड़ों का अधिकार इस जिले में बना रहा परंतु उनकी स्वतंत्रता चली गई।

चंद्रशाह ने थोड़े ही दिन राज्य किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दूसरे लड़के मधुकरशाह ने अपने बड़े भाई को धोखा देकर मार डाला और वह आप गद्दी पर बैठ गया। पीछे से उसको अपनी करनी

पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने एक खोखले पीपल के पेड़ में बंद होकर आग लगवा ली और इस प्रकार अपने प्राण देकर प्रायश्चित्त कर डाला। तब उसका लड़का प्रेमनारायण गद्दी पर बैठा। मधुकरशाह की मृत्यु के समय प्रेमनारायण दिल्ली में था। चलते समय वह ओड़छे के राजा वीरसिंहदेव[१] से नहीं मिल पाया। इसको वीरसिंह ने इतना बड़ा अपमान समझा कि मरते समय अपने पुत्र जुझारसिंह से सौगंध करा ली कि इसका बदला पूरे तौर से लिया जाय।

गोंड़ लोग हल में गाय-बैल दोनों को जोतते हैं।[२] किंतु गाय का जोतना हिंदू लोग निंदनीय समझते हैं। कहते हैं, यही बहाना खड़ा कर जुझारसिंह ने प्रेमनारायण पर चढ़ाई कर दी और उसको मारकर अपने बाप का वैर भँजा लिया। कोई कोई कहते हैं कि जुझारसिंह स्वयं लड़ने नहीं गया, उसका भाई पहाड़सिंह गया था। जो हो, गाय की गुहार पहाड़सिंह के प्रति की गई जान पड़ती है। इसका एक कवित्त है, जिसका अंतिम चरण यों है 'वीरसिंहदेव के प्रबल पहाड़सिंह तेरी बाट जोहती हैं गौएँ गोंड़वाने की।'

प्रेमनारायण के लड़के हिरदयशाह को अपने बाप के मारे जाने की खबर दिल्ली में मिली। वहाँ से वह तुरंत रवाना हुआ और बुंदेलों पर आक्रमण कर जुझारसिंह का सिर काट लाया।

हिरदयशाह

वह अपनी राजधानी को मंडला से हटाकर रामनगर ले गया और वहाँ उसने किला और महल बनवाए। यही एक गोंड़ राजा है जो एक शिलालेख छोड़ गया है। उसमें गोंड़ों की बड़ी भारी वंशावली दर्ज है। इस राजा ने ७० वर्ष राज्य किया।

हिरदयशाह के मरने के बाद उसका लड़का छत्रशाह केवल ७ वर्ष राज भोग कर मर गया। तब उसका लड़का केशरीसिंह गद्दी

१—वीरसिंहदेव का समय घटना के गड़बड़ में डालता है।—सं०

२—जो गाय गाभिन नहीं होती वह यदि जोती जाने लगती है तो उसमें प्राय: गर्भ धारण की क्षमता आ जाती है। आज कल इस मत का प्रचार है। कदाचित् गोंड़ों की भी यही धारणा रही हो। —सं०

पर बैठा परंतु शीघ्र ही घर में फूट उत्पन्न हुई। केशरीसिंह मारा गया और उसका चचा हरीसिंह गद्दी पर बैठा, परंतु लोगों ने हरीसिंह को मारकर केशरीसिंह के लड़के नरिंदशाह को राजा बनाया। तब हरीसिंह के लड़के पहाड़सिंह ने औरंगजेब की शरण ली और वह मुगल सेना चढ़ा लाया। नरिंदशाह हार गया परंतु पहाड़सिंह खेत रहा। तब उसके दोनों लड़के भाग गए और फिर दिल्ली जाकर मदद माँगी, परंतु उनका प्रयास निष्फल हुआ। अब उन्होंने एक नई युक्ति सोची। अपना धर्म्म बदल डाला—वे मुसलमान हो गए। इस तरकीब से उनको मदद मिल गई और नरिंद-शाह से एक बार फिर लड़ाई छिड़ी। अंत में वे दोनों भाई मारे गए। इसके बाद नरिंदशाह निश्चिंत तो हो गया परंतु इन झगड़ों में पड़ने से उसका राज्य खोखा हो गया। उसको अनेक राजाओं से सहायता लेनी पड़ी और उसके बदले में कई गढ़ नजर करने पड़े। इसी प्रकार गद्दी पर कायम रखने के बदले में उसे मुगलों को ५ गढ़ नजर करने पड़े।

नरिंदशाह सन् १७३१ ई० में मर गया। तब उसका लड़का महाराजशाह गद्दी पर बैठा। संग्रामशाह के बावन गढ़ों में से केवल २६ उसके हाथ लगे। महाराजशाह को निर्बल देख पेशवा की लार टपकी। उसने मंडला पर चढ़ाई करके महाराजशाह को मार डाला और उसके लड़के शिवराजशाह को गद्दी पर बैठा ४ लाख रुपया सालाना चौथ मुकर्रर कर दी। नागपुर के भोंसले ने चौथ वसूल करने के बहाने गोंड़ों को दबाना शुरू किया और उसने छः गढ़ अपने लिये ले लिए। शिवराजशाह सन् १७४६ ई० में मर गया। तब उसका लड़का दुर्जनशाह गद्दी पर बैठा। यह बड़ा क्रूर और दुष्ट था। उसके चचा निजाम-शाह ने मौका पाकर उसे कत्ल करवा दिया और वह आप राजा बन गया।

निजामशाह होशियार आदमी था। उसने अपने राज्य की उन्नति करने की चेष्टा की। परंतु पुराना वैभव कैसे लौट सकता था। उसके मरने पर गद्दी के लिये फिर बखेड़ा उत्पन्न हुआ। आखिरकार उसके भतीजे नरहरशाह को गद्दी मिली, परंतु उससे और नागपुर के

मरहठों से झगड़ा उत्पन्न हो गया। नरहरशाह गद्दी से उतार दिया गया और निजामशाह का लड़का सुमेरशाह राजा बनाया गया। यह बात सागर के मरहठों को पसंद न हुई। इसलिये उन्होंने सुमेरशाह को निकालने की कोशिश की। सुमेरशाह ने अपना पाया उखड़ता देख कुछ शर्तों पर नरहरशाह को फिर गद्दी पर बैठाने की बातचीत चलाई। सागरवालों ने उसे शर्तें ठहराने के लिये बुला भेजा। विश्वास का बँधा वह बेचारा चला गया परंतु उसके साथ दगा की गई। मरहठों ने उसे पकड़कर सागर के किले में कैद कर दिया और नरहरशाह को गद्दी पर बैठा दिया। सागर के मरहठे नरहरशाह को कठपुतली सा नचाने लगे। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि मैं नाम ही का राजा हूँ, तो उसने मरहठों को निकालने पर कमर कसी। इस पर मरहठों ने उसे पकड़कर खुरई (जिला सागर) के किले में कैद कर दिया। वहाँ पर उसने सन् १७८९ में मृत्यु पा गढ़ामंडला के गोंड़-राजघराने की लीला समाप्त कर दी।

गोंड़ जंगली जाति है, जंगलों में रहती आई है। इसलिये उसका सुख-संपत्ति से संपर्क सदैव ही कम रहा। अब भी उसकी दशा कुछ सुधरी नहीं है। सहस्रों गोंड़ों के पास आज भी लँगोटी के सिवा दूसरा शरीर-आच्छादन न मिलेगा। जैसा उनका सादा वेष है वैसा ही सादा खाना-पीना है। अपने आप उत्पन्न होनेवाले कंदमूल और जंगली फल-फूल, पत्ते—यथा महुआ, चार, तेंदू, भेलवाँ, केवलार आदि—उनका खाद्य रहा है और अब भी है। इसके सिवा ईश्वर के पैदा किए चूहों से लेकर बारहसिंगा तक अनेक जीव-जंतु भरे पड़े थे। अनगिनती पक्षी वृक्षों का आसरा लेते थे। ये मानों गोंड़ों ही के लिये बनाए गए थे। घरेलू जानवरों से भी उन्हें परहेज न था। बकरे, भेड़े, गाय, भैंस, बैल सभी उनके काम आ सकते थे। शौक की वस्तु शराब थी। महुए के झाड़ों की कमी नहीं थी। आबकारी का महकमा था नहीं। इसी में गोंड़ों की चैन की बंसी बजती थी। इन सब कारणों से गोंड़ों के

गोंड़

लिये खेती-पाती करने की कुछ आवश्यकता नहीं थी। अपनी ही जाति का राजा पाकर ये अपने जंगलों में शेर के समान स्वतंत्र विचरते थे। वनज वस्तुओं पर इनका पूरा अधिकार था, फिर ये क्यों किसी प्रकार का परिश्रम करते? इसी कारण गोंड़-राज्य का बहुत सा भाग जंगल बना रहा, यहाँ तक कि अकबर के समय में गढ़ा के जंगलों में जंगली हाथी पाए जाते थे, जो पकड़कर बहुधा कर में दिए जाते थे। इन कारणों से ब्राह्मणदेव ने गोंड़ जाति पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया था।

अब रही हिंदू प्रजा, उसको अपने पोषण के लिये उद्योग करना ही पड़ता था। जनसंख्या अधिक नहीं थी, उर्वरा भूमि की अधिकता थी, भूमि को अदल बदलकर जोतने से उपज अच्छी होती थी, इससे उनके लिये भी आराम था। कर-स्वरूप पैदावार के भाग लेने की जो प्रथा प्राचीन काल से चली आती थी, वही स्थिर रही। उस जमाने में आवश्यकताएँ कम थीं; खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने और धातुओं द्वारा शरीर को आभूषित करने के सिवा और कोई शौक न तो ज्ञात था, न उसकी चाह थी। इसलिये हिंदू भी सरलता से जीवन बिताते थे और प्राय: घर के एक मुखिया के परिश्रम से संपूर्ण कुटुंब का भरण-पोषण हो जाया करता था।

गोंड़-धर्म

गोंड़ आदिम अवस्था के लोग थे, इससे उनका धर्म भी आदिम अवस्था का था। वे बड़े देव को पूजते थे और उसे गाय-बैल चढ़ाते थे। राजा गोंड़ होने से यही राजधर्म बन जाता, यदि हिंदू इन राजाओं को अपने हाथ में न ले लेते। वे जानते थे कि मूर्ख जंगली गोंड़ों को हाथ में लाना कठिन नहीं है, इसलिये उन्होंने राजवंश को अलग करने की चेष्टा की और गोंड़ जाति के दो विभाग करा दिए—एक राजगोंड़ और दूसरे खर अर्थात् असल गोंड़। राजगोंड़ों में हिंदू प्रथाएँ चला दीं, उनका जनेऊ करवा दिया और उनके मन में भर दिया कि वे अब राजपूत-जातीय हैं और नीच खर गोंड़ों से भिन्न हैं। राजकुल की एक लंबी-चौड़ी वंशावली प्रस्तुत कर दी और यह कथा प्रचलित कर दी गई कि मूल पुरुष जादो-

राय क्षत्रिय था। उसने गोंड़ राजा की लड़की से विवाह किया था और वह गोंड़ों की गद्दी का अधिकारी बन गया था, इसलिये वह गोंड़ कहलाने लगा था। उसने गोंड़-कुमारी रत्नावली के हाथ का भोजन भी नहीं किया। गढ़ा में आने के पूर्व उसका विवाह क्षत्रिय-वंश में हो गया था और उसके पीछे जो राजा हुआ वह पहली स्त्री का लड़का था, न कि रत्नावली का। अहं किसको वश में नहीं कर लेता? गोंड़ राजा अपने वंश-पुराण से निस्संदेह बहुत प्रसन्न हो गए होंगे। उन्होंने जंगली गोंड़ों से जाति-व्यवहार छोड़ दिया और अपने संबंधियों की अलग पंक्ति बना ली और हिंदू-मतानुसार आचार-विचार इतना बढ़ाया कि उनके चौकों में जलाने की लकड़ियाँ तक धुलकर जाने लगीं। मंदिर, शाला, कथा-पुराण इत्यादि का प्रचार हो गया और राजगोंड़ बिलकुल हिंदू हो गए। राजवंशज अपने बल और वैभव से राजपूत कुमारियों के साथ विवाह-संबंध करने लगे। सबको विदित ही है कि राजा दलपति-शाह की रानी दुर्गावती चंदेलिन थी। अन्य राजाओं में से किसी की पड़िहारिन, किसी की बैस और किसी की बघेलिन रानियाँ थीं। यद्यपि अब राज्य चला गया है और इस कुल के प्रतिनिधि गरीब हो गए हैं फिर भी वे राजपूतों से विवाह-संबंध करते जाते हैं।

गोंड़-शासन-पद्धति

गोंड़-सभा में एक दीवान, एक पुरोहित और एक कवि रहता था। भीतरी प्रबंध के लिये दीवान जिम्मेदार रहता था। पुरोहित केवल धर्माधिकारी ही नहीं रहता था, प्रत्युत वह बहुधा नायब दीवान का काम भी देता था। सेना का प्रबंध राजा के हाथ मे रहता था। युद्ध में वह स्वयं जाया करता था। यहाँ तक कि राजा न रहने पर रानियाँ लड़ने जाया करती थीं। रानी दुर्गावती ने स्वयं रणक्षेत्र में जाकर आसिफखाँ से युद्ध किया था। बहुतेरे लोगों को इसलिये जागीरें दे दी गई थीं कि वे स्वयं, काम पड़ने पर, नियमित सेना लेकर उपस्थित हों। कवि अन्य राजदरबारों की देखादेखी पीछे से रखा गया था, विशेषकर उससे भाट का काम लिया जाता था ताकि वह अवकाश में राजा और अन्य संबंधियों का गुणानुवाद

करे। साहित्य के उत्तेजन की ओर गोंड़ों का ध्यान कभी नहीं गया। चापलूसों ने कभी उनका चंपू बना दिया तो कुछ पारितोषिक कभी किसी को मिल गया तो ठीक, नहीं तो साहित्य-प्रेमी के लिये जुहार ही बस था। गवैए नचैए जैसे गाना नाचना सीखते थे वैसे पढ़ैए-लिखैए पढ़ना-लिखना सीखते थे। ब्राह्मणों और कायस्थों का यही जातीय व्यवसाय समझा जाता था और उन्हीं के वंशजों को लिखने-पढ़ने का काम सौंपा जाता था। धर्म-संबंधी काम विशेषकर ब्राह्मणों को दिया जाता था और संसार-संबंधी जैसे माल-विभाग इत्यादि की लिखा-पढ़ी लालाजी के हाथ में रहती थी। और यदि कोई व्यक्ति कोई बड़ा भारी अपराध न कर बैठे तो एक ही वंश में वह काम पीढ़ी दर पीढ़ी चला जाता था। इसलिये राज्याधिकारियों और प्रजा की स्थिति स्थिर रहती थी। जो वंश जिस सम्मान को पहुँच गया था उसका भोग उसकी संतति को मिलता था। इससे चुनाव और असंतोष की झंझटें तो मिट जाती थीं परंतु किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती थी, सदैव के समान गाड़ी लीक ही लीक से ढुलकती चली जाती थी। मामले-मुकदमे बहुधा जबानी तय कर लिए जाते थे। बाल की खाल निकालनेवालों का उस समय जन्म नहीं हुआ था। इसलिये न्याय करने में अधिक समय नहीं लगता था।

पंचदश अध्याय

बुंदेले

गोंड़ों ही के शासन-काल में बुंदेलों ने लूट-मार करना आरंभ कर दिया था। पहले बता चुके हैं कि वीरसिंह ने धामौनी का परगना ले ही लिया था। वीरसिंहदेव ओड़छा का राजा था। उसी वंश में छत्रसाल पैदा हुआ था, परंतु वह राजगद्दी का अधिकारी नहीं था। उसने अपने बाहुबल से लूट-मार करके नवीन राज्य की स्थापना की।

सागर जिले में उसने कई बार धावा किया और प्रायः सभी नगर लूट लिए। लाल कवि रचित छत्रप्रकाश में ब्योरेवार वर्णन लिखा है कि उसने किन-किन गाँवों को लूटा। उसने धामौनी पर अनेक बार आक्रमण किए और क्रमशः प्रायः पूरा जिला अपने अधिकार में कर लिया। अंत में सन् १७२६ ई० में मुगलों के सूबेदार मुहम्मदखाँ बंगश ने अस्सी हजार अश्वारोही और हाथी लेकर छत्रसाल पर चढ़ाई कर दी, तब छत्रसाल संकट में पड़ गया। उस समय उसने बाजीराव पेशवा की सहायता चाही और उसे लिख भेजा :—

'जो गति भई गजेंद्र की, सो गति पहुँची आय।
बाजी जात बुँदेल की, राखो बाजीराय'॥

इस दोहे के पाते ही बाजीराव एक लाख सवार लेकर तुरंत चढ़ आया और मुहम्मदखाँ बंगश को जैतपुर के किले में घेर लिया। बुंदेले और मरहठे छः महीने तक मोरचा जमाए रहे और शाही फौज को भूखों मार डाला। कहते हैं कि उस समय आटा ८०) सेर बिकने लगा था। जीत के थोड़े ही दिन पश्चात् सन् १७३२ ई० में छत्रसाल की मृत्यु हुई। उसके दो लड़के थे, हिरदयशाह और जगतराज। पेशवा की सहायता के बदले, छत्रसाल ने बाजीराव को अपना तृतीय पुत्र मानकर राज्य के तीन हिस्से किए। उसके अनुसार जेठे पुत्र हिरदय-शाह को ३२ लाख की रियासत मिली अर्थात् पन्ना, कालंजर और शाहगढ़ के इलाके। दूसरे लड़के जगतराय को जैतपुर, अजयगढ़ और चरखारी के ३३ लाख के इलाके और पेशवा को ३६ लाख की सागर, कालपी, झाँसी और सिरोंज की जागीर मिली।

छत्रसाल वीर ही नहीं वरन् कविता-रसिक और स्वयं कवि भी था। बंगश-विपत्ति में फँसने पर भी उसने सहायता की प्रार्थना कविता ही में की और जब उसके घरानेवालों ने ही एक बार उसकी हँसी की और लिख भेजा :—

ओड़छे के राजा और दतिया के राई।
अपने मुँह छत्रसाल बने भना बाई॥

तब उसने इसका मुँहतोड़ उत्तर कविता ही में लिखभेज :—

सुदामा तन हेरे तब रंक हू ते राव कीन्हों,
बिदुर तन हेरे तब राजा कियो चेरे तें।
कुबरी तन हेरे तब सुंदर स्वरूप दीन्हों,
द्रौपदी तन हेरे तब चीर बढ्यो टेरे तें॥
कहत छत्रसाल प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखो,
हिरनाकुस मारो नेक नजर न फेरे तें।
ए रे गुरु ज्ञानी अभिमानी भए कहा होत,
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे तें॥

भूषण कवि जब छत्रपति शिवाजी से अनेक प्रकार का दान-मान पाकर छत्रसाल के यहाँ आया तब छत्रसाल ने उससे अधिक उपहार देने का सामर्थ्य न देखकर भूषण की पालकी अपने कंधे पर रख ली। जब भूषण पालकी से उतरा और उसे यह बात ज्ञात हुई तब वह फूला नहीं समाया। उसकी प्रतिष्ठा की हद हो गई। उसने तुरंत यह कवित्त बनाकर कहा :—

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदरि कतारि दीन्हें,
भूषण भनत ऐसे दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को॥

हिरदयशाह बुंदेला

हिरदयशाह ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पन्ना को अपनी राजधानी बनाया। गढ़ाकोटे का इलाका हिरदयशाह के हिस्से में पड़ा था। उसके जीते-जी कुछ गड़बड़ नहीं हुई। जब वह सन् १७३९ ई० में मर गया तब उसका जेठा पुत्र सुभागसिंह गद्दी पर बैठा। उसके कई भाई थे। उनमें से पृथ्वी-

सिंह ने अपने मन के अनुसार जागीर न पाकर अपने भाई से विरोध किया और वह लड़ने को उद्यत हो गया। पृथ्वीसिंह ने मरहठों को लिख भेजा कि यदि तुम गढ़ाकोटा इलाका लेने में सहायता करो, तो मैं तुमको चौथ अर्थात् उस इलाके की आमदनी का चौथा हिस्सा दिया करूँगा। मरहठे छत्रसाल का यश तुरंत भूल गए और पृथ्वीसिंह की सहायता करने को तत्पर हो गए। सुभागसिंह हार गया और पृथ्वीसिंह गढ़ाकोटा का राजा बन बैठा।

षोडश अध्याय

मराठे

ऊपर बता चुके हैं कि सन् १७३२ ई० में सागर का बहुत सा भाग पेशवाओं के अधिकार में आ गया था। बारह वर्ष के भीतर गढ़ाकोटे पर भी उनका स्वत्व हो गया। इन सब इलाकों के प्रबंध के लिये गोविंदराव पंडित नियुक्त किया गया और उसका निवास-स्थान रानगिर स्थिर किया गया। पीछे से उसने सागर में किला बनवाया और वहाँ जाकर वह रहने लगा। कहते हैं, गोविंदराव पंडित पेशवा का रसोइया था। एक दिन बाजीराव उपासे थे, तब गोविंदराव ने राजा से कुछ बनाकर खा लेने के लिये आधी घड़ी की मुहलत माँगी। राजा ने आज्ञा दे दी, परंतु यह देखना चाहा कि यह आधी घड़ी में कैसे निपट लेगा। गोविंदराव नदी के किनारे गया और एक मुरदे को जलते देखा। वहाँ चिता की आग में उसने कुछ भूँज-भाँजकर अपना पेट भर लिया। पेशवा चकित हो गया और बोल उठा, 'जो मनुष्य इतना कर सकता है वह जो चाहे सो कर सकता है।' गोविंदराव के भाग्य खुल गए। पेशवा ने उसे बढ़ाना आरंभ कर दिया और अंत में उसे बुंदेलखंड में अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। गोविंदराव पंडित ने आसपास के इलाके दमोह इत्यादि पर अपना अधि-

कार जमा लिया, परंतु सन् १७६९ ई० में वह पानीपत की लड़ाई में मारा गया। कहते हैं कि वह इतना मोटा था कि बिना दूसरे की सहायता के घोड़े पर सवार नहीं हो सकता था। इसी कारण वह पानीपत से भाग नहीं पाया।

गोविंदराव के पश्चात् उसका लड़का बालाजी और उसके पश्चात् रघुनाथराव आपा साहब उत्तराधिकारी हुआ। इसके जमाने में मंडला और जबलपुर जिले भी पेशवा के अधिकार में आ गए, परंतु सन् १७९८ में उन्हें पेशवा ने नागपुर के राजा रघुजी भोंसला को दे डाला। धामौनी भी शीघ्र ही भोंसला को मिल गई। रघुनाथराव सन् १८०२ ई० मे मर गया। वह उदारचरित्र था और विद्वानों का बहुत सत्कार किया करता था। उसके समय में सागर में सुप्रसिद्ध हिंदी कवि पद्माकर रहता था। उसने रघुनाथराव की तलवार की यों प्रशंसा की थी :—

दाहन तैं तंज तिगुनी त्रिसूलन पै,
    चिल्लिन तैं चौगनी चलाक चक्र चाली तैं।
कहै पद्माकर महीप रघुनाथ राव,
    ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै घाली तैं।
पाँचगुनी पब्ब तैं पचीस गुनी पावक तैं,
    प्रकट पचास गुनी प्रलय प्रनाली तैं।
साठ गुनी सेस तैं सहस्र गुनी स्रापन तैं,
    लाख गुनी लूक तैं करोर गुनी काली तैं॥

रघुनाथराव कोई संतान नहीं छोड़ गया, तब उसकी विधवा रानियों ने सूबेदार विनायकराव की सहायता से काम चलाया। सन् १८१४ ई० में सिंधिया ने सागर को लूटा और विनायकराव को कैद कर लिया, परंतु पौन लाख रुपया लेकर उसे छोड़ दिया। सन् १८१८ ई० में जब पेशवा ने सागर और दमोह के इलाके सरकार अँगरेज को दे दिए, तब रघुनाथराव की रानियों—राधाबाई और रुकमाबाई—और विनायक राव सूबेदार एवं अन्य मरहठा सरदारों को ढाई लाख रुपया सालाना

पेंशन दी गई। रानियों ने बलवंतराव को गोद लिया था। उसको जबलपुर में रहने की आज्ञा दी गई। उसके भी कोई सन्तान न थी। उसने पंडित रघुनाथराव को गोद ले लिया। ये सागरवाले राजा कहलाते थे और जबलपुर में रहते थे। इनको भी ५०००) सालाना पेंशन मिलती थी।

नागपुर के भोंसले

पेशवा ने जबलपुर और मंडला द्वितीय रघुजी भोंसला को दे दिए थे। इनके समय में उस कुशासन का आरंभ हुआ जिससे उनके नाम की संज्ञा का अर्थ अराजकता हो गया। अभी तक जब कभी कोई कुछ गड़बड़ करता है तो ग्रामीण बहुधा कह उठते हैं 'कैसन घोंसली[१] मचाऊथे' अर्थात् तू कैसी गड़बड़ मचाता है। भोंसलों के हाथ में पड़ते ही जिले में अनेक प्रकार का अन्याय आरंभ हो गया। भोंसलों के प्राय: सभी कारबारी अन्यायी और लुटेरे थे। केवल रुपया लूटना वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसलिये जैसे बने, सीधे या टेढ़े, प्रजा का धन निकालने में निशि-वासर तत्पर रहते थे। गाँव नीलाम करा दिए जाते थे परंतु यह भी भरोसा नहीं रहता था कि लेनेवाला साल के अंत तक निबह जायगा। कभी कभी ठेकेदार की खड़ी फसल कटने ही के पूर्व गाँव छीन लिया जाता था। ठेकेदार मुँह देखते रह जाता था। उसका परिश्रम और लागत धूल में मिल जाती थी। केवल अनेक प्रकार के कर ही नहीं लगाए जाते थे, बल्कि धनिकों के घर की स्त्रियों और पुरुषों को लंपटता का दोष लगाया जाता था। यदि घर के स्वामी ने अधिकारियों को रुपया भर दिया तब तो ठीक, नहीं तो वह काठ में डाल दिया जाता था। कुलटाएँ सरकार की ओर से नीलाम कर दी जाती थीं और रुपया खजाने में जमा हो जाता था। कोई उद्यम या व्यापार ऐसा नहीं था जिस पर कर न लगाया जाता रहा हो। यदि कोई बाजार में अपनी चीजें बेचने को बैठे और इधर-उधर देखने लगे तो उस पर भी कर

१—उत्तर के जिलों में जनता भोंसलों के राज्य को घोंसली राज्य कहा करती थी।

लगा दिया जाता था; क्योंकि उसकी असावधानी से चोरी की आशंका हो जाती थी, जिसकी रक्षा का बोझ अधिकारियों पर पड़ता था। यदि कोई पानी बरसने के लिये आराधना करे तो उस पर भी कर लग जाता। यदि ईश्वर उसकी सुन ले और पानी बरसने से कहीं अधिक पैदावार हो जाय तो फिर राजा उस भावी प्राप्ति का भागी क्यों न समझा जाय इसलिये आराधना के लिये कर क्यों न लगाया जाय। यह जानने के लिये कि अमुक व्यक्ति धनवान् है या नहीं, उसके यहाँ की जूठी पत्तलें या दोने इकट्ठे करके जाँच की जाती थी, कि वह घी खाता है या नहीं। यदि घी का चिह्न मिला तो समझा जाता था कि धनवान् है, उससे अधिकतर कर क्यों न वसूल किया जाय? विपत्तियों का अंत यहीं पर नहीं हो जाता था। यदि राजजाल से कोई बच गया तो पिंडारियों के दरेरों से बच जाना कठिन था। ये लोग टिड्डी-दल के समान अकस्मात् टूट पड़ते थे और रहा-सहा सब लूट पाटकर चंपत हो जाते थे। राजा के अधिकारी उनका बाल नहीं छू सकते थे। मतलब यह कि प्रजा की पीड़ा कुछ कुछ उस व्यक्ति के महान् संकट की सी थी जिसका अनुमान तुलसीदास ने किया है—अर्थात् "ग्रह-गृहीत पुनि बात-बस, तापर बीछी मार। ताहि पियाइय वारुणी, कहहु कवन उपचार॥" परंतु यह कुप्रबंध और अन्याय कब तक चल सकता था? शीघ्र ही वह दिन आया जब कि रैयत को इस 'मरहठी घिसघिस' से छुटकारा मिला।

ब्रिटिश राज्य

सन् १८१७ ई० में आपा साहब के बिगड़ खड़े होने पर लार्ड हेस्टिंग्ज ने जनरल हार्डीमैन को नागपुर की ओर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। उक्त साहब मैहर से ७ सितंबर को एक अश्वारोही और एक गोरों की पैदल पल्टन लेकर रवाना हुआ। शेष सेना पीछे रह गई इसलिये वह बिलहरी में ठहर कर उसकी बाट देखता रहा। अंत में वह १९ सितंबर को जबलपुर के निकट आ पहुँचा परंतु वहाँ सामना करने के लिये तीन हजार योद्धाओं की सेना तैयार मिली। उनके पास ४ पीतल की तोपें भी थीं। जनरल

ने अपनी तोपें छिपाकर लगवा दीं। थोड़ी देर के पश्चात् दोनों ओर से दनादन तोपें दगने लगीं। सैनिक अपने दाँव-पेंच करने लगे। अंत में दूसरे दिन प्रातःकाल जबलपुर की गढ़ी और शहर छीन लिया गया। तभी से जबलपुर ब्रिटिश सेना का निवास-स्थान हो गया। शासन-प्रबंध के लिये तुरंत ही एक समिति बनाई गई जिसकी अध्यक्षता मेजर ओब्राइन को मिली। फिर सन् १८२० ई० में १२ जिलों की एक कमिश्नरी बनाई गई, जिसका नाम सागर व नर्म्मदा टेरीटरीज रखा गया। उसमें जबलपुर का जिला सम्मिलित किया गया और जबलपुर में गवर्नर-जनरल का एक एजंट रहने लगा। जब सन् १८३५ ई० में पश्चिमोत्तर देश (वर्त्तमान संयुक्त प्रदेश) का निर्म्माण हुआ तब उसमें सागर व नर्म्मदा टेरीटरीज शामिल कर दी गई।
